स्वामी दयानन्द के दार्शनिक सिद्धान्त

[पंजाब विश्वविद्यालयान्तर्गत महर्षि दयानन्द अनुसंधान पीठ के तत्वावधान में आयोजित संगोष्ठी में पठित / प्रस्तुत शोध निबन्धों का संग्रह]

सम्पादक

डॉ० भवानीलाल भारतीय

प्रोफेसर व अध्यक्ष

दयानन्द चेयर फॉर वैदिक स्टडीज,

पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़

सन् १९८२ ई० ☐ शकाब्द १९०४

प्रकाशक :

महर्षि दयानन्द अनुसंधान पीठ

जी-३, पंजाब विश्वविद्यालय,

चंडीगढ़ - 160 014.

□

मूल्य : 5 रु.

□

मुद्रक :

सतीशचन्द्र शुक्ल

वैदिक यंत्रालय,

अजमेर - 305001

प्राक्कथन

पंजाब विश्वविद्यालय की दयानन्द अनुसंधान पीठ (Dayanand chair for vedic studies) के तत्त्वावधान में 'महर्षि दयानन्द के वैदिक दर्शन' पर एक संगोष्ठी का आयोजन दि. १६-१७ मई १९८१ को किया गया। हमें यह लिखते हुए प्रसन्नता है कि इस गोष्ठी में भाग लेने हेतु देश के विभिन्न भागों से अनेक विद्वान् दार्शनिक तथा विचारक पहुंचे तथा उन्होंने अपने शोधपत्रों के वाचन एवं प्रवचनों से श्रोताओं को उपकृत किया। संगोष्ठी में सम्मिलित होनेवाले विद्वानों में पं. युधिष्ठिर जी मीमांसक (राष्ट्रीय सम्मान प्राप्त संस्कृत विद्वान्); डॉ. ब्रह्मानन्द शर्मा, पूर्व संस्कृत विभागाध्यक्ष गवर्नमेंट कालेज, अजमेर; पं. वीरेन्द्र शास्त्री लखनऊ; डॉ जयदेव वेदालंकार, दर्शन विभागाध्यक्ष, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय; प्रो. धर्मवीर, अध्यक्ष संस्कृत विभाग, दयानन्द कॉलेज अजमेर; प्रिंसिपल बालकृष्ण दीवान वेदालंकार; डॉ. आनन्दकुमार एवं डॉ. विक्रमकुमार आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

संगोष्ठी का शुभारम्भ पंजाब विश्वविद्यालय के उपकुलपति प्रो. आर. सी. पॉल के आशीर्वादात्मक प्रवचन से हुआ तथा उद्‌घाटन प्रसिद्ध वैज्ञानिक एवं दार्शनिक विद्वान् डॉ. स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती ने किया। संगोष्ठी के अवशिष्ट तीन सत्र क्रमशः श्री बलभद्रकुमार हूजा उपकुलपति गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, डॉ. धर्मेन्द्र गोयल प्रोफेसर दर्शन विभाग पंजाब विश्वविद्यालय तथा डॉ. जयदेव विद्यालंकार अध्यक्ष संस्कृत विभाग महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय की अध्यक्षता में सम्पन्न हुए।

संगोष्ठी में पठित किंवा प्रस्तुत आठ निबन्ध यहाँ पाठकों के लाभार्थ प्रस्तुत किये जा रहे हैं। दयानन्द दर्शन पर आयोजित यह विद्वत्‌गोष्ठी अपने ढंग की पहली थी, जिसका आयोजन पंजाब विश्वविद्यालय के अंग्रेजी विभाग के सभागार में किया गया था, तथा जिसकी सम्पूर्ण कार्यवाही को प्रबुद्ध श्रोताओं ने रुचिपूर्वक देखा और सुना। डी. ए. वी. कॉलेज चण्डीगढ़ के आचार्य श्री कृष्णसिंह आर्य ने संगोष्ठी के स्वागताध्यक्ष का पद स्वीकार कर हमें सर्वतोभावेन सहयोग दिया, तदर्थ विभाग उनका आभार स्वीकार करता है। इसी प्रकार हम चोधरी प्रतापसिंहजी, रायसाहब करनाल तथा आर्यसमाज सेक्टर ७, १६, १९ एवं २२ चण्डीगढ़ का भी आभार स्वीकार करते हैं, जिनकी आर्थिक सहायता से

संगोष्ठी का सफल आयोजन हो सका। दयानन्द-दर्शन पर आयोजित इस संगोष्ठी में पठित अथवा प्रस्तुत निबन्धों के प्रकाशन में सहायता हेतु हमें श्री बहादुरचन्द मुन्जाल ट्रस्ट लुधियाना के अतिरिक्त आर्यसमाज सेक्टर ७, १६ एवं २२ चण्डीगढ़ से भी समुचित सहायता राशि प्राप्त हुई है, तदर्थ उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना हमारा पुनीत कर्त्तव्य है। डॉ. एन. आर. कल्ला प्रवक्ता बायोफिजिक्स विभाग का अनन्य सहयोग हमें गोष्ठी को सफल बनाने में मिला है। विभाग के लिपिक श्री शार्दूलसिंह एवं चतुर्थश्रेणी कर्मचारी श्री होश्यारसिंह ने विविध व्यवस्थाओं में सहयोग दिया एवं छात्र श्री तुलसीराम एम-ए-संस्कृत तथा श्री गौरमोहन माथुर ने अतिथि सत्कार व्यवस्था में अपना योगदान दिया। सर्वोपरि पंजाब विश्वविद्यालय के सम्मान्य उपकुलपति प्रो. आर. सी. पॉल के प्रति मैं अपना हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ, जिनके आशीर्वाद से यह महत् सारस्वत अनुष्ठान सुचारुरूप से सम्पन्न हो सका। पुस्तक के सुन्दर मुद्रण हेतु श्री सतीश शुक्ल, प्रबन्धक वैदिक यंत्रालय, अजमेर हमारे साधुवाद के पात्र हैं।

विदुषां वशंवद

जी. ३. पंजाब विश्वविद्यालय
चंडीगढ़
श्रावण पूर्णिमा २०३९ वि.

भवानीलाल भारतीय
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
दयानन्द अनुसंधान पीठ

शुभाशंसा



मुझे यह जान कर बड़ी प्रसन्नता हुई कि दयानन्द अनुसंधान पीठ, पंजाब विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान में आयोजित दर्शन गोष्ठी में पठित एवं प्रस्तुत शोध-निबन्धों को पुस्तक रूप में प्रकाशित किया जा रहा है। महर्षि दयानन्द अपने युग के महान् चिन्तक, विचारक तथा दार्शनिक थे। उन्होंने समसामयिक समस्याओं तथा देश एवं मानवता के समक्ष प्रस्तुत कठिनाइयों का ही हल नहीं ढूंढ़ा, अपि तु वेदों पर आधारित दार्शनिक विचारों को भी सुव्यवस्थित रूप प्रदान किया था।

प्रस्तुत निबन्धों में महर्षि दयानन्द के दर्शन-विषयक विचारों को ही विभिन्न प्रकार से संकलित एवं विवेचित किया गया है। आशा है इस प्रकाशन से स्वामी दयानन्द के दार्शनिक विचारों के प्रति पाठकों की जिज्ञासा और बढ़ेगी। मैं दयानन्द अनुसन्धान पीठ के इस नवीन प्रकाशन का स्वागत करता हूं।

रा. च. पॉल

उपकुलपति

पंजाब विश्वविद्यालय,

चंडीगढ़

विषय सूची

स्वामी दयानन्द के दार्शनिक सिद्धान्त

डॉ० भवानीलाल भारतीय
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष
दयानन्द अनुसंधान पीठ, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़

उन्नीसवीं शताब्दी का धार्मिक एवं सांस्कृतिक पुनर्जागरण भारतीय इतिहास की एक चिरस्मरणीय घटना है। इस काल में ब्राह्मसमाज, आर्यसमाज, थियोसोफी तथा रामकृष्ण मिशन आदि नवजागरण के आन्दोलनों ने देश के धर्म, समाज, संस्कृति तथा दर्शन को एक नवीन दिशा प्रदान की थी। राजा राममोहनराय, देवेन्द्रनाथ ठाकुर, दयानन्द सरस्वती, केशवचन्द्र सेन तथा विवेकानन्द आदि महा-पुरुषों ने भारत के दार्शनिक चिन्तन को जो नूतन आयाम दिया है, उसका व्यापक एवं गम्भीर अध्ययन अभी भविष्य की ही वस्तु है। यह सर्वविदित है कि नवोदय के ज्योतिर्धर इन महापुरुषों की गणना अभी तक समाज-सुधारकों तथा राष्ट्र के उन्नायक पुरुषों के रूप में ही हुई है तथा इनके दार्शनिक विचारों की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है।

राममोहनराय आधुनिक भारत के निर्माताओं में अग्रगण्य थे। उन्होंने वैदिक एकेश्वरवाद तथा औपनिषदिक ब्रह्मवाद के आधार पर अपने विचारों का प्रचार किया। हिन्दू बहुदेववाद के घटाटोप से आक्रान्त भारतीय समाज को एकेश्वरवाद का पाठ पढ़ाने के लिये राममोहनराय ने वेदों और उपनिषदों की सहायता ली। यद्यपि वे इस्लाम के एकेश्वरवाद तथा सूफियों के सर्वात्मवाद से भी प्रभावित हुए थे, परन्तु मूलतः राममोहनराय का दार्शनिक चिन्तन उपनिषद् एवं वेदान्त पर आधारित था। आर्य जाति के दार्शनिक विचारों से सर्व साधारण को परिचित कराने की दृष्टि से राजा ने विभिन्न उपनिषदों का बंगला तथा अंग्रेजी में अनुवाद किया तथा १८१५ ई. में वेदान्त दर्शन का बंगला अनुवाद प्रस्तुत किया। इसके तुरन्त पश्चात् १८१६ में उन्होंने वेदान्तसार शीर्षक से वेदान्त दर्शन की स्वोपज्ञ व्याख्या का हिन्दी एवं बंगला में संक्षिप्त रूपान्तर भी प्रकाशित किया। इसी वर्ष उन्होंने

वेदान्तदर्शन का अंग्रेजी भाषानुवाद भी प्रकाशित किया। राममोहनराय के उपनिषद् भाष्य तथा वेदान्त टीका का अनुशीलन करने से स्पष्ट विदित हो जाता है कि उन्होंने शंकराचार्य प्रतिपादित अद्वैतवाद को अस्वीकार कर दिया था।

राममोहनराय के पश्चात् ब्राह्मसमाज का नेतृत्व देवेन्द्रनाथ ठाकुर के हाथों में आया। ठाकुर महाशय का दार्शनिक चिन्तन तथा उनकी धार्मिक मान्यताएं भी उपनिषदों से ही प्रेरणा ग्रहण करती हैं। शंकर प्रोक्त ब्रह्मैक्यवाद तथा मायावाद से उन्होंने स्पष्ट असहमति प्रकट की है। उपासना की दृष्टि से द्वैतवाद को स्वीकार किये बिना काम नहीं चल सकता, यह उनकी स्पष्ट धारणा थी। ब्राह्मधर्म शीर्षक ब्राह्मसमाज के सिद्धान्त विषयक ग्रन्थ में उन्होंने प्रायः उपनिषदों के ही वाक्यों का संग्रह किया है जिनमें ब्रह्म की एक, अद्वितीय सत्ता को स्वीकार किया गया है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि ब्राह्मधर्म के अनुसार सृष्टि के प्रारम्भ में एक मात्र ब्रह्म की ही सत्ता थी, उससे भिन्न कुछ भी नहीं था तथा उसी ब्रह्म से यह सब कुछ उत्पन्न हुआ है। ब्राह्मधर्म के आधारभूत इस सिद्धान्त से यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि देवेन्द्रनाथ ने चाहे मायावाद को स्वीकार न किया हो किन्तु सृष्टि के निमित्त एवं उपादान कारण के रूप में शंकर की ही भांति ब्रह्म को ही उसका अभिन्न निमित्तोपादान कारण स्वीकार करते थे।

आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द ब्राह्मनेता देवेन्द्रनाथ ठाकुर तथा अपूर्व वाग्मी केशवचन्द्र सेन के समकालीन थे। कलकत्ता प्रवास के समय दयानन्द ने उपर्युक्त दोनों महानुभावों से भेंट कर धर्म, समाज तथा अन्य विषयों पर नानाविध चर्चा भी की थी। ब्राह्मसमाज के आचार्यगण जहाँ गृहस्थाश्रम के दायित्वों का निर्वाह करते हुए धर्म प्रचार में संलग्न थे, वहाँ दयानन्द सरस्वती ने युवावस्था के प्रारम्भ में ही तीव्र वैराग्य भावना का अनुभव कर गृह-बन्धनों को त्यागते हुए चतुर्थाश्रम की दीक्षा ले ली थी। सामान्य संन्यासियों की भांति दयानन्द के प्रारम्भिक दार्शनिक विचार भी शाङ्कर अद्वैतवाद को ही स्वीकार करके चले। उन्होंने स्वयं अपने आत्मकथन में यह स्वीकार किया है कि "जीव ब्रह्म एक है ऐसा निश्चय उन ब्रह्मानन्दादि ने मुझको करा दिया। प्रथम वेदान्त पढ़ते समय भी कुछ-कुछ निश्चय हो गया था परन्तु वहाँ ठीक दृढ़ हो गया कि मैं ब्रह्म हूँ।" इसी समय उन्होंने वेदान्तसार, वेदान्त परिभाषा आदि उन ग्रन्थों का अध्ययन किया जो अद्वैतवाद का निरूपण करते हैं। स्वामी विरजानन्द के निकट रह कर विद्याध्ययन करते समय तक दयानन्द के दार्शनिक सिद्धान्तों पर अद्वैतवाद का प्रभाव पर्याप्त रूप में विद्यमान था, परन्तु आगरा में विद्यारण्य स्वामी कृत पञ्चदशी की कथा करते समय जब उन्होंने यह पढ़ा कि ईश्वर को भी भ्रम हो जाता है, तो अद्वैतवाद के प्रति उनकी आस्था समाप्त हो गई। इसके अनन्तर दार्शनिक ग्रन्थों का अधिकाधिक

मनन, चिन्तन तथा अनुशीलन करने के उपरान्त दयानन्द सरस्वती ने ईश्वर, जीव और प्रकृति के अनादित्व सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से परवर्ती आर्यसमाजी विद्वानों ने इसे त्रैतवाद के नाम से अभिहित किया है।

यह खेद की बात है कि दयानन्द के समाज-सुधार, धर्म-संशोधन तथा राष्ट्रवाद की तो प्रायः चर्चा हुई हैं किन्तु उनके दार्शनिक सिद्धान्तों पर बहुत कम ऊहापोह हुआ है। यदि हम स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों का गहराई से अध्ययन करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व के पीछे एक सुस्पष्ट, सुविचारित तथा सतर्क दार्शनिक चिन्ताधारा कार्य कर रही है।

दयानन्द विश्व-प्रपञ्च की व्यावहारिक व्याख्या करनेवाले यथार्थवादी दार्शनिक थे। दयानन्द का दर्शन जीवेश्वर भेदवाद पर आधारित है इस दृष्टि से शाङ्कर-अद्वैत एवं मायावाद के प्रखर आलोचक भी हैं। उनके अनुसार वेदों, उपनिषदों तथा दर्शन ग्रन्थों में सर्वत्र ईश्वर, जीव तथा प्रकृति की अनादिता के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। अपने पक्ष की पुष्टि में वे ऋग्वेद के उस प्रसिद्ध मन्त्र—"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते" का प्रमाण उद्धृत करते हैं जिसमें ब्रह्म और जीव को चेतनता, पालनादि गुणों से सदृश, व्याप्य व्यापक भाव से संयुक्त तथा परस्पर मित्रतायुक्त सनातन अनादि माना है तथा प्रकृति को अनादि मूल रूप कारण स्वीकार किया है। इसी प्रसंग में उन्होंने "अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णां बह्वी प्रजाः सृजमानां सरूपाः' इस श्वेताश्वतर वाक्य को भी उद्धृत कर यह स्पष्ट कर दिया है कि ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों अजन्मा हैं और जगत् के कारण हैं। उनके अनुसार ईश्वर तथा जीव का पारस्परिक सम्बन्ध उपास्य उपासक, राजा-प्रजा, गुरु शिष्य, मित्र-मित्र, सेव्य सेवक भाव का है। यत्र-तत्र वेदमन्त्रों के भूरिशः प्रमाणों को प्रस्तुत कर दयानन्द सरस्वती ने जीवेश्वर सम्बन्धों की उपर्युक्त भूमिकाओं को पुष्ट भी किया है।

स्वामी दयानन्द के दार्शनिक सिद्धान्त यों तो उनके प्रायः सभी ग्रन्थों में प्रसंगोपात्त वर्णित हुए हैं परन्तु सत्यार्थप्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका तथा वेदभाष्य में उन्हें विशद रूप में प्रस्तुत किया गया है। यहाँ प्रमाण मीमांसा, तत्त्व-दर्शन एवं आचारशास्त्र—इन त्रिविध शीर्षकों के अन्तर्गत दयानन्द दर्शन की एक संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की जा रही है।

प्रमाण मीमांसा—

ज्ञान प्राप्ति के साधनों का विचार प्रमाण मीमांसा के अन्तर्गत किया जाता है। स्वामी दयानन्द ने इसका विचार सत्यार्थप्रकाश के तृतीय

समुल्लास में 'परीक्षा' प्रकरण के अन्तर्गत किया है। उनके अनुसार परीक्षा पाँच प्रकार की होती है—

१. जो ईश्वर के गुण कर्म स्वभाव और वेदों से अनुकूल हो वह सत्य और उससे विरुद्ध हो वह असत्य है।

२. जो सृष्टिक्रम के अनुसार है वह सत्य है और उससे विपरीत असत्य है।

३. जो आप्तों के उपदेशानुकूल है वह सत्य है और उससे विरुद्ध असत्य है।

४. अपनी आत्मा के अनुकूल आचरण को स्वीकार्य और विपरीत को त्यागना ही उचित है।

५. आठों प्रमाणों से पुष्ट तथ्य को प्रामाणिक स्वीकार करना चाहिए।

इसके पश्चात् उन्होंने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द प्रमाणों की परिभाषा न्याय शास्त्रानुकूल की है। वे ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव को भी प्रमाणों के अन्तर्गत ही मानते हैं, परन्तु यह भी लिख देते हैं कि जो शब्द में ऐतिह्य और अनुमान में अर्थापति, सम्भव और अभाव की गणना करें तो चार प्रमाण रह जाते हैं। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि दयानन्द के मतानुसार न्याय-दर्शन प्रतिपादित प्रमाण-मीमांसा ग्राह्य है क्योंकि वह व्यावहारिक भी है। नव्य-न्याय के पुरस्कर्ताओं ने प्रमेय तत्त्व की प्रायः अवहेलना कर मात्र प्रमाण मीमांसा में ही अपनी प्रतिभा और शक्ति को जिस प्रकार व्यय किया है, उससे दयानन्द असहमत हैं। नव्य-न्याय की फक्किकाओं को उन्होंने काकभाषा कहा है। उनके विचारानुसार प्रमाणों का ज्ञान तत्त्वपरीक्षा के लिये आवश्यक है, उसे साधन रूप में ही स्वीकारा जाना चाहिए।

दयानन्द का तत्त्वदर्शन—

जैसा कि हम देख चुके हैं वे भेदवादी तथा द्वैतवादी दार्शनिक हैं। द्वैतवादी इस अर्थ में कि वे चेतन तथा अचेतन का स्पष्ट भेद स्वीकार करते हैं तथा चेतन तत्त्व को भी ईश्वर तथा जीव की पृथक् संज्ञाएँ प्रदान करते हैं। अचेतन तत्त्व प्रकृति है, जो जड़ है तथा जिसे सांख्यदर्शन ने प्रधान, अव्यक्त आदि नामों से वर्णित किया है। ईश्वर और जीव की व्याख्या करते समय स्वामी दयानन्द सांख्य एवं न्याय का सहारा लेते हैं। वे जहाँ योगदर्शन में मान्य 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' इस परिभाषा को स्वीकार करते हैं वहाँ सांख्यप्रतिपादित 'पुरुष' से ईश्वर तथा जीव दोनों का ही अभिप्राय ग्रहण करते हैं। इस प्रकार उनकी ईश्वरविषयक मान्यताएँ विज्ञानभिक्षु आदि सेश्वरवादी सांख्याचार्यों के अधिक निकट हैं।

स्वामी दयानन्द तो कपिल प्रोक्त सांख्य को भी ईश्वरवादी दर्शन स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार जो कपिलाचार्य को अनीश्वरवादी कहता है जानो वही अनीश्वरवादी है। अपने मत की पुष्टि में उन्होंने सांख्यदर्शन के 'ईश्वरासिद्धेः', 'प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः' तथा 'सम्बन्धभावान्नानुमानम्' आदि सूत्रों को प्रस्तुत कर उनका वास्तविक अर्थ स्पष्ट किया है।

दयानन्द के अनुसार ईश्वर सत्, चित्, आनन्दस्वरूप सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापक, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टि कर्त्ता है। मनुष्य के लिये वही एक मात्र उपास्य है। ईश्वर जीवों को उनके शुभाशुभ कर्मों के अनुसार फल प्रदान करता है, अतः वह न्यायकारी है, किन्तु उसके दयालु होने में भी किसी प्रकार की शंका नहीं होनी चाहिए। सत्यार्थप्रकाश के सप्तम समुल्लास में ईश्वर सम्बन्धी विस्तृत विवेचना करते हुए उन्होंने वेदों में एकेश्वरवाद का प्रतिपादन, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ईश्वर सत्ता की सिद्धि, साकार अथवा निराकार, सर्वशक्तिमान् का वास्तविक अभिप्राय, ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना का फल, सगुण और निर्गुण, अवतारवाद का निराकरण, ईश्वर द्वारा पापों के क्षमा न किया जाने आदि अनेक प्रासंगिक विषयों की विशद चर्चा की है। इसी प्रकार इसी ग्रन्थ के प्रथम समुल्लास में वेद तथा अन्य शास्त्रों में कथित ईश्वर के विभिन्न नामों की व्याकरणशास्त्र के आधार पर व्युत्पत्ति बताते हुए सिद्धि की गई है। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासना का एक पृथक् प्रकरण लिखकर दयानन्द ने इस विषय को प्रस्तुत किया है। दयानन्द प्रतिपादित ईश्वर को कतिपय आलोचकों ने 'Personal God' की संज्ञा से अभिहित किया है। ऐसे समीक्षकों की धारणा है कि जैसे—यहूदी, ईसाई तथा इस्लाम आदि सामी-मजहबों में एक स्थान विशेष पर रहनेवाले, विशिष्ट व्यक्तित्वधारी तथा जीवरूपी प्रजा का शासन करनेवाले ईश्वर की कल्पना की गई है, उसी प्रकार का ईश्वर दयानन्द को भी अभिप्रेत है। परन्तु यह धारणा सत्य नहीं है। स्वामी दयानन्द ईश्वर को एकदेशीय न मानकर सर्वव्यापक कहते हैं। वह सर्वान्तर्यामी होने के कारण प्राणियों के भीतर है तो बाहर भी है। वह सैमेटिक मतों में वर्णित ईश्वर की भाँति कर्तुं अकर्तुं अन्यथाकर्तुं नहीं है। उपनिषद् वर्णित 'सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म' ही दयानन्द का ईश्वर है जिसकी ज्ञान, क्रिया और बल स्वाभाविक है।

जीव एवं ईश्वर का भेद प्रतिपादित करने में स्वामी जी पूर्णतया सफल हुए हैं। "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम् एको बहूनां यो विदधाति कामान्" जैसी औपनिषदी श्रुतियां उनके मत का समर्थन करती हैं। न्यायदर्शन के अनुसार

इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान को वे आत्मा का लिंग मानते हैं। इसी के साथ वैशेषिक दर्शन में वर्णित प्राण, अपान, निमेष, उन्मेष, मन, गति, इन्द्रिय, अन्तर्विकार आदि को भी वे जीव के ज्ञापक चिह्न स्वीकार करते हैं। दयानन्द की दृष्टि में जीव परिच्छिन्न, एकदेशी कर्मों को करने में स्वतन्त्र किन्तु फल भोगने में परतन्त्र, नित्य तथा मुक्तिकामी है। उनके अनुसार जीव अल्पज्ञ, अल्प शक्तियुक्त, अणु परिमाणी तथा विभिन्न कर्मों का कर्ता एवं फलों का भोक्ता है। वह संख्या में अनन्त है तथा स्वकृत कर्मानुसार नानाविध योनियों में भ्रमण करता हुआ सुख, दुःख प्राप्त करता है।

यही जीव स्वपुरुषार्थ से योगदर्शन में वर्णित यमनियमादि का सेवन कर आसन, प्राणायाम, प्रत्याहाररूपी साधनों के द्वारा धारणा, ध्यान एवं समाधि को सिद्ध करता है। स्वामीजी ने इस अष्टांगयोग की विस्तृत व्याख्या ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका के उपासना विषय प्रकरण में की है। उनके अनुसार श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात्काररूपी साधन चतुष्टय तथा शमदमादि षट् सम्पत्ति के द्वारा जीव में मुमुक्षत्व का उदय होता है, जो अन्ततः उसे मोक्षमार्ग का पथिक बनाता है। दयानन्द के अनुसार मोक्ष त्रिविध दुःखों से अत्यन्त निवृत्ति रूप तो है ही, वह परमानन्द का विधायक तथा सुखरूप भी है। इस प्रकार वे मुक्ति के सम्बन्ध में सांख्य, न्याय तथा वेदान्त के मतों को समन्वित रूप में प्रस्तुत करते हैं। परन्तु मुक्ति से पुनरावृत्ति का विधान स्वीकार करना स्वामी दयानन्द की एक अनूठी स्थापना है, जिसे उन्होंने वेद, उपनिषदादि के आधार पर प्रस्तुत किया है। उनका कथन है कि जीव का सामर्थ्य अल्प है अतः इन अल्प साधनों एवं अल्प सामर्थ्य से प्राप्त-मुक्ति भी अनन्त कालवाली नहीं हो सकती। मुक्ति से पुनरावृत्ति को सिद्ध करते समय स्वामी दयानन्द 'न च पुनरावर्त्तते न च पुनरावर्त्तत इति', 'अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्', 'यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम' आदि शास्त्रीय वाक्यों को पूर्वपक्ष में रख देते हैं तथा 'कस्य नूनं' आदि ऋग्वेदीय मंत्रों तथा 'ते ब्रह्मलोके ह परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे' आदि उपनिषद् वचनों के आधार पर मुक्ति से पुनरावर्तन की सिद्धि करते हैं।

स्वामी दयानन्द के अनुसार परमात्मा की प्राप्ति, जिसे वे मोक्ष कहते हैं, जीव का चरम पुरुषार्थ और परम लक्ष्य है। इस मोक्ष के साधन रूप में उन्हें ज्ञान, कर्म एवं उपासना का समन्वय ही इष्ट है। शंकराचार्य की भाँति वे कर्मसंन्यास के पक्षपाती नहीं है। 'ऋतेज्ञानान्नमुक्तिः' को स्वीकार करते हुए भी वे आयु पर्यन्त शास्त्र विधान के अनुसार कर्मों का आचरण उचित एवं आवश्यक

मानते हैं। 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः' इस श्रुति के अनुसार स्व-स्व कर्म करते हुए ही जीव को चाहिए कि वह धर्मानुसार सौ वर्ष पर्यन्त जीवन धारण करे। उनके अनुसार जीवन्मुक्त पुरुष भी अकर्मण्यता की स्थिति को प्राप्त नहीं करता अपि तु अनेक विलक्षण शक्तियों से सम्पन्न होकर वह ईश्वरीय राज्य में यथेच्छ विचरण करता है। 'शृण्वन् श्रोत्रं भवति स्पर्शयन् त्वग्भवति' इस ब्राह्मण वचन के अनुसार मुक्त जीव के साथ भौतिक शरीर तथा इन्द्रिय गोलक नहीं रहते, किन्तु वह अपनी स्वाभाविक शक्तियों से ही मोक्षानन्द को भोगता है। मोक्ष के हेतुभूत साधनों में स्वामीजी ने विवेक, वैराग्य, षट्कसम्पत्ति तथा मुमुक्षुत्व का उल्लेख किया है।

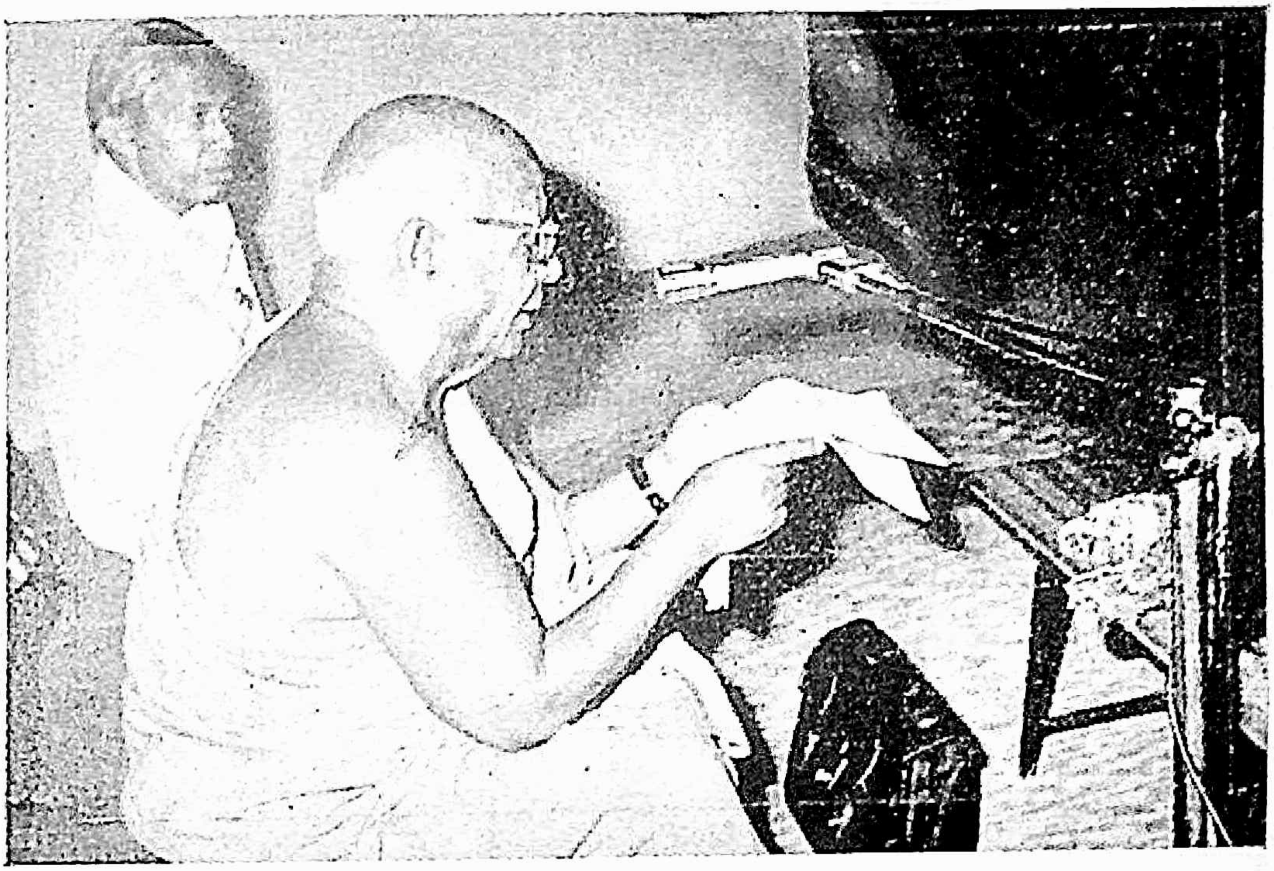
जगत् के उपादान के रूप में स्वामी दयानन्द ने प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार किया है। प्रकृति जड़ एवं कारण रूप होने से स्वतन्त्ररूपेण सृष्टि रचना का सामर्थ्य नहीं रखती। परन्तु परमात्मा की शक्ति से ही वह सृष्टि रूप में व्याकृत होकर जगत् बनती है। सृष्टि-रचना की प्रक्रिया को समझाते समय दयानन्द ने न्यायदर्शन के अनुसार आरम्भवाद को स्वीकार किया है, अद्वैतवाद अभिप्रेत विवर्तवाद उन्हें अस्वीकार्य है। मायावाद अथवा विवर्तवाद का वे बलपूर्वक खण्डन करते हैं। सांख्यदर्शन में प्रतिपादित सत्कार्यवाद को भी उन्होंने स्वीकार किया है क्योंकि कार्य के पहले कारण की विद्यमानता तथा कारण में कार्य की मूल स्थिति को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। असत्कार्यवाद का सिद्धान्त उन्हें उसी प्रकार अमान्य है, जिस प्रकार रज्जु में सर्प की भ्रांति अथवा शुक्ति में रजत की भ्रांति जैसे उपन्यासों से सिद्ध किया जानेवाला विवर्तवाद उन्हें अस्वीकार्य है।

स्वामी दयानन्द के दार्शनिक चिन्तन की एक विशेषता यह भी है कि वे षड्दर्शनों में परस्पर अविरोध मानते हैं वे इन दर्शनों को परस्पर विरोधी विचारों को व्यक्त करनेवाला न मान कर विश्व प्रपञ्च की व्याख्या करने में समर्थ एक दूसरे के विचारों का पूरक मानते हैं। उनके अनुसार सांख्य दर्शनकार प्रकृति और पुरुष रूपी दो अनादि सत्ताओं का उल्लेख कर जड़ और चेतन सत्ताओं के परस्पर पार्थक्य को स्पष्ट करता है, साथ ही जड़ प्रकृति परम पुरुष के सान्निध्य से किस प्रकार सृष्टिरूपा हो जाती है, यह सांख्यदर्शन का विवेचनीय विषय है। ईश्वरोपासना का व्यावहारिक मार्ग उपदिष्ट करना योगशास्त्रकार का प्रयोजन है। न्यायदर्शन तो स्पष्ट ही तर्कमूलक दर्शन है जिसकी सहायता के बिना कोई व्यक्ति तत्त्वालोचना या सत्यान्वेषण में सफल नहीं हो सकता। प्रमाण, प्रमेय आदि १६ पदार्थों की व्याख्या करने से पूर्व जो न्यायदर्शनकार ने इन पदार्थों के ज्ञान से अपवर्ग प्राप्ति बताई है, उसका कारण भी यही है कि बिना प्रमेय पदार्थों को जाने

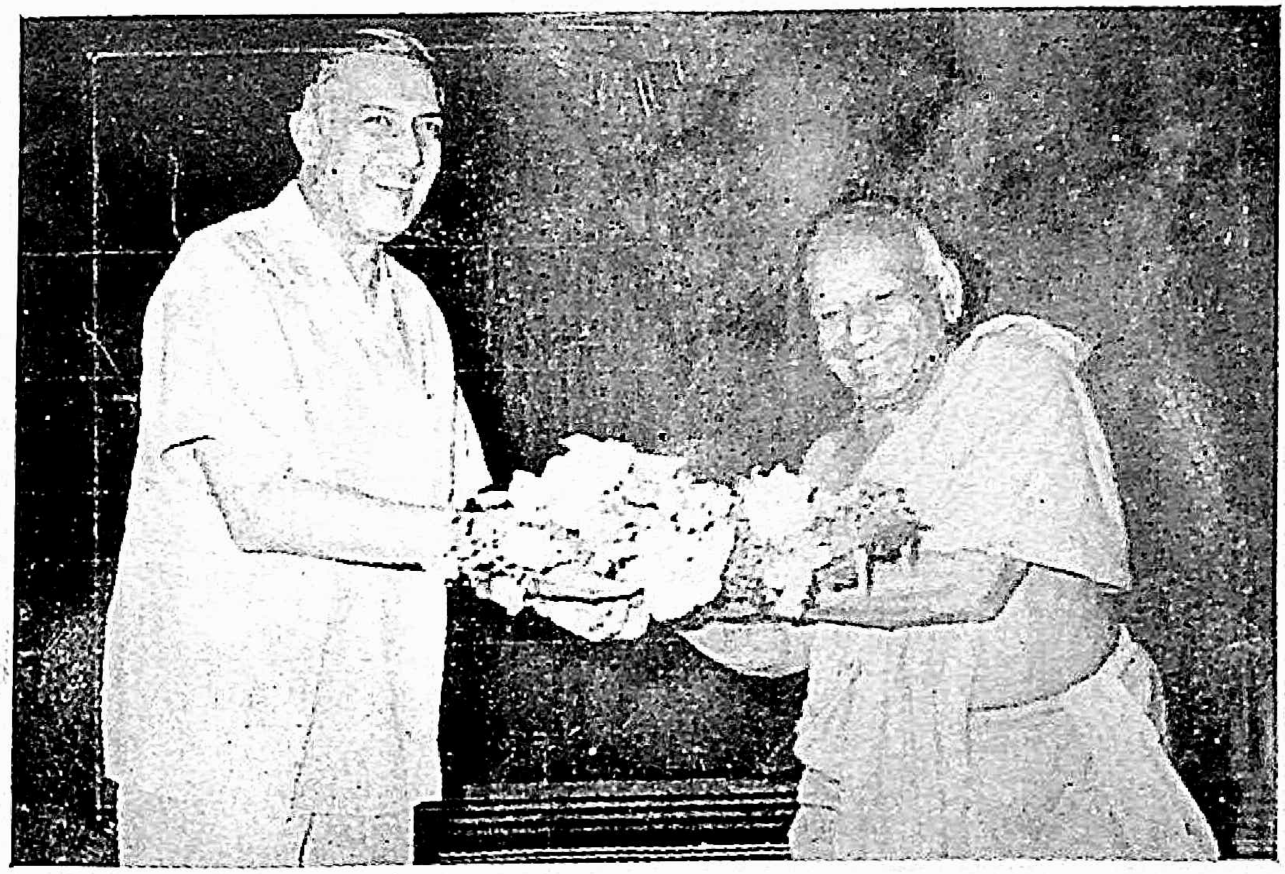
जीव और ईश्वर का सम्यक् बोध नहीं होता और प्रमेय ज्ञान के लिए प्रमाणों की आवश्यकता होती है। इसी प्रसंग में वाद, जल्प, वितण्डा, छल, जाति, हेत्वाभास और निग्रह स्थान आदि की जो विवेचना की गई है, उसका प्रयोजन भी मनुष्य की तर्कशक्ति का विकास करना एवं उसकी सूक्ष्म विचारशक्ति को अधिक प्रखर बनाना है। वैशेषिक दर्शन के अन्तर्गत जिस परमाणुवाद का सिद्धान्त विवेचित हुआ है, वह आधुनिक विज्ञान के अत्यन्त निकट है। इस प्रकार सप्त पदार्थों के विवेचन रूपक वैशेषिक दर्शन भी उसी धर्म की व्याख्या करता है, जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि होती है।

स्वामी दयानन्द के अनुसार मीमांसादर्शन धर्म के उस स्वरूप की विशेषताएँ निरूपित करता है जो ब्राह्मण ग्रन्थों में वैदिक कर्मकाण्ड की व्याख्या के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यहाँ वैदिक कर्मों को ही धर्म का साधन बताया गया है तथा इन कर्मों की प्रेरणा करनेवाले वेदवाक्यों को धर्म का मूल स्रोत घोषित किया गया है। विविध यज्ञ-यागों में प्रयुक्त होनेवाले कर्मजालों की व्यवस्था और व्याख्या ही इस दर्शन का अभिप्रेत है। उनके अनुसार वेदान्त दर्शन में जगत् के निमित्त कारण ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण करनेवाले उपनिषद् वाक्यों का परस्पर समन्वय एवं सामञ्जस्य स्थापित किया गया है। स्वामी दयानन्द के मतानुसार शंकर ने ब्रह्मसूत्रों की जो अद्वैतपरक व्याख्या की है वह तो सूत्रकार के मौलिक आशय के विरुद्ध ही है क्योंकि शारीरक सूत्रों के रचयिता आचार्य बादरायण को न तो ब्रह्मै-क्यवाद की स्थापना ही अभीष्ट थी और न जीव अथवा प्रकृति का मिथ्यात्व घोषित करना ही उनका लक्ष्य था। रामानुज की ही भांति दयानन्द भी यह मानते हैं कि शंकर के पूर्व आचार्य बोधायन ने ब्रह्मसूत्रों का भाष्य भेदवादी दृष्टि से किया था और वही भाष्य भगवान् सूत्रकार के मूल आशय के अधिक निकट था। इस प्रकार षट् दर्शन एक दूसरे के विरोधी न होकर पूरक सिद्ध होते हैं। स्वामी दयानन्द षड्दर्शनों की इस समन्वयमूलक अध्ययन दृष्टि का संकेत मात्र ही अपने ग्रन्थों में कर सके हैं, समयाभाव से इसका उपबृंहण तथा विशदीकरण उनके द्वारा नहीं हो सका।

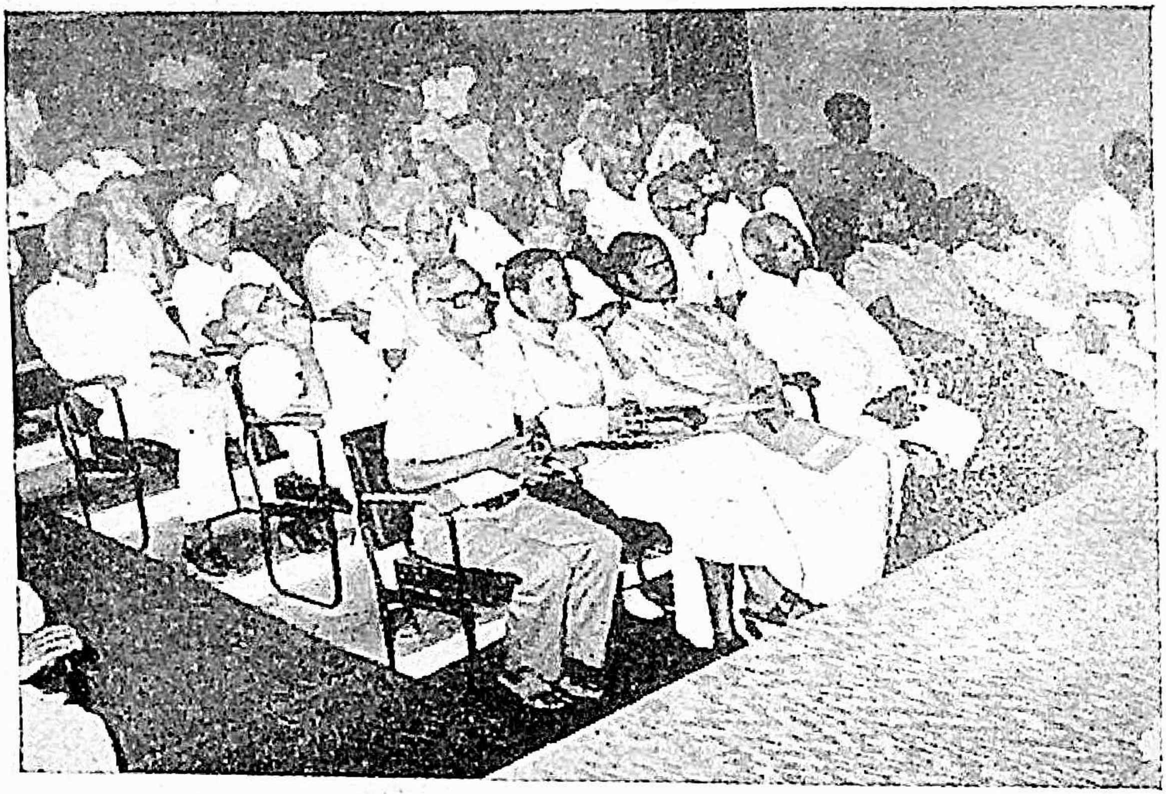
स्वामी दयानन्द के दार्शनिक विचारों का अनुसरण करते हुए स्वामी दर्शनानन्द, नारायणस्वामी, पं आर्यमुनि, स्वामी ब्रह्ममुनि, पं गंगाप्रसाद उपाध्याय आदि परवर्ती दार्शनिकों ने उन्हीं के विचारों की व्याख्या, विवेचना तथा विशदीकरण किया है। इसी दृष्टि से उपनिषद्, वेदान्त तथा गीता पर व्याख्या ग्रन्थों के अतिरिक्त अनेक मौलिक ग्रन्थों की रचना कर स्वामी दयानन्द के दार्शनिक सिद्धान्तों का ही पल्लवन एवं उपबृंहण किया गया है—



उद्घाटन भाषण पढ़ते हुए डॉ० स्वामी सत्यप्रकाश



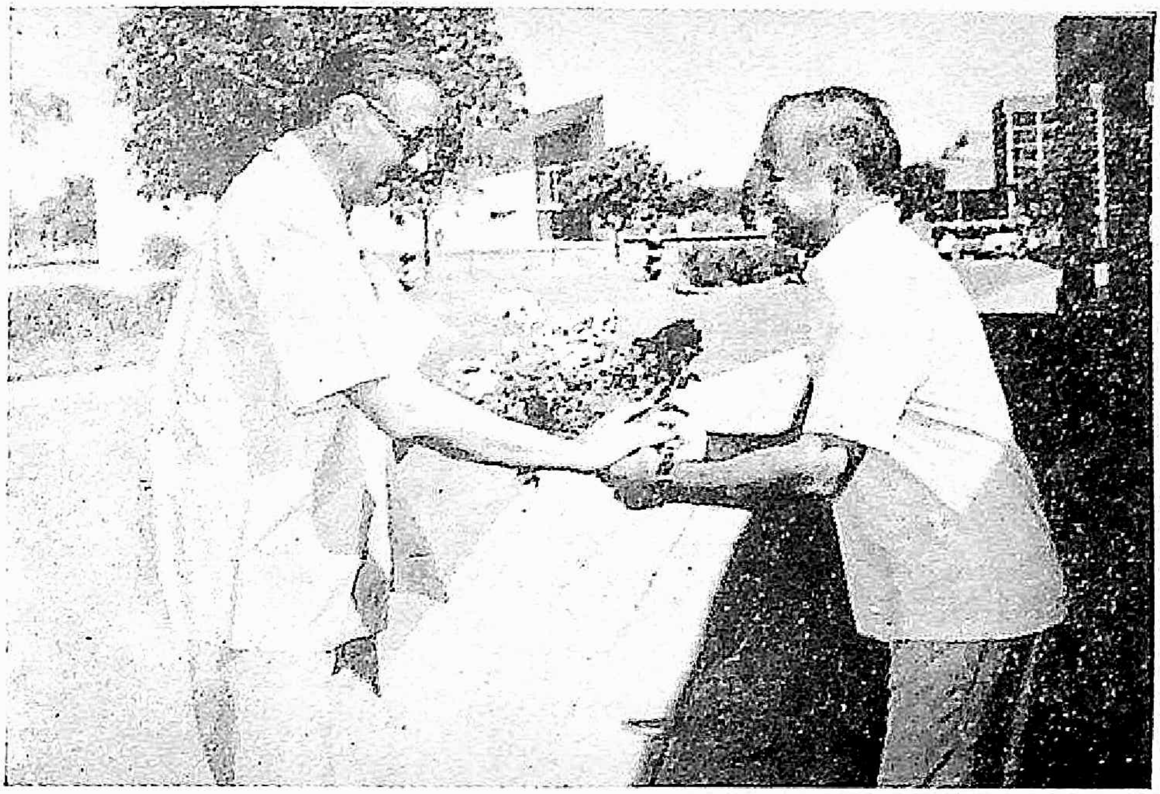
उपकुलपतिजी द्वारा स्वामी सत्यप्रकाशजी का अभिनन्दन



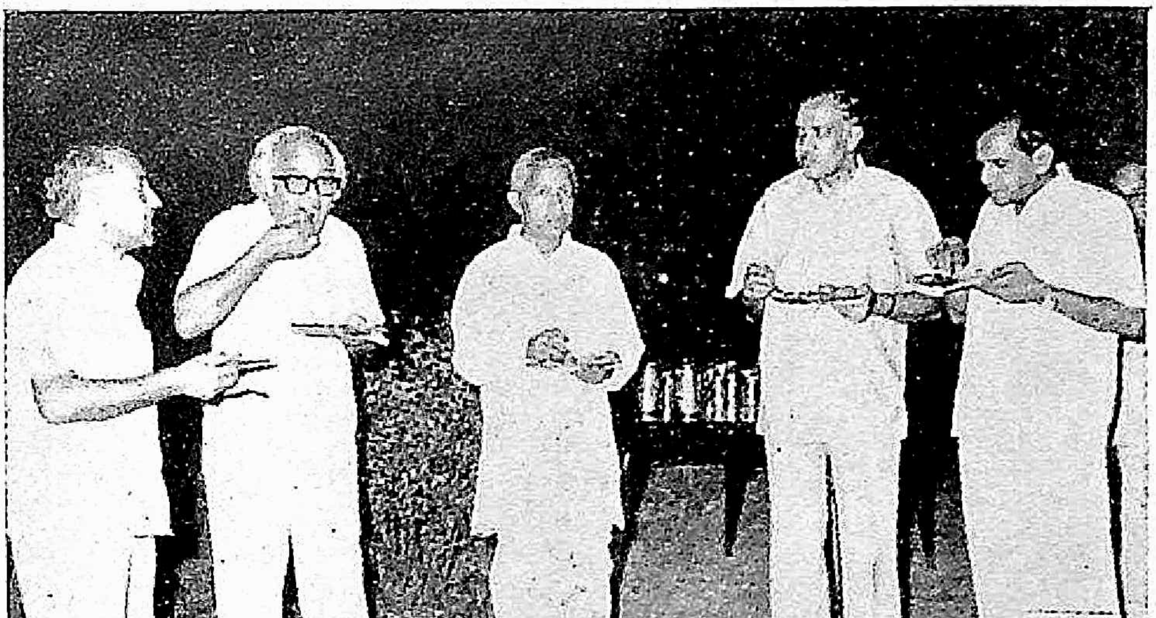
प्रबुद्ध श्रोताओं की पंक्ति



संगोष्ठी के मंच पर उपकुलपति प्रो. पाल, स्वामी सत्यप्रकाश जी,
डॉ० भारतीय तथा प्रिन्सिपल कृष्णसिंह आर्य



उपकुलपतिजी का स्वागत करते हुए
प्रिन्सिपल श्री आर्य



संगोष्ठी के उपलक्ष्य में आयोजित प्रीतिभोज, बायें से प्रिन्सिपल आर्य,
वित्त एवं विकास अधिकारी श्री एच. एम. शर्मा, उपकुलपति
प्रो. पाल, तथा कुलसचिव श्री डी. पी. वर्मा



संगोष्ठी के स्वागताध्यक्ष
प्राचार्य कृष्णसिंह आर्य द्वारा स्वागत-भाषण



विभागाध्यक्ष डॉ० भारतीय द्वारा
प्रास्ताविक प्रवचन



उपकुलपति डॉ० आर. सी. पाल
द्वारा
संगोष्ठी को आशीर्वाद



प्रीतिभोज का एक दृश्य
बायें से श्रीमती एच. एम. शर्मा,
श्रीमती [illegible]

संदर्भ ग्रन्थ—

1. A Critical study of the philosophy of Dayanand : By Dr. Satya Prakash.
2. Dayanand's Out line of Vedic philosophy By Dr. (Swami) Satya Prakash Saraswati.
3. The Philosophy of Dayanand By Pt. Ganga prasad upadhyaya.
4. दयानन्द दर्शन : डा. वेदप्रकाश गुप्त
5. दयानन्द दर्शन : एक अध्ययन—डा. श्रीनिवास शास्त्री
6. महर्षि दयानन्द की विश्वदर्शन को देन—डा. जयदेव विद्यालंकार
7. महर्षि दयानन्द प्रतिपादित वैदिकदर्शन—पं. गोपाल शास्त्री

□□

स्वामी दयानन्द के दार्शनिक विचार

महर्षि दयानन्द वैदिक अनुसंधान पीठ,

पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ द्वारा आयोजित संगोष्ठी

[अध्यक्षीय भाषण, १६ मई, १९८१, स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती]

हम और आप सब पंजाब विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो. रामचन्द्र पॉल के आभारी हैं, जिनके प्रोत्साहन से दयानन्द अनुसंधान पीठ ने आज की संगोष्ठी का आयोजन किया है। इस गोष्ठी में भाग लेने के लिए आपने आर्यसमाज परिवार के मूर्धन्य विद्वानों को आमन्त्रित किया है, जिन्होंने दयानन्द के दृष्टिकोण को समझने का प्रयास किया है और जिन्होंने स्वयं भी किया है दयानन्द-दर्शन की दिशा में मौलिक चिन्तन। मुझे विश्वास है कि आप आज और कल की पाँच गोष्ठियों में अनेक दृष्टियों से दयानन्द के दार्शनिक दृष्टिकोण की विवेचना स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकेंगे। आपने मुझे अध्यक्ष मनोनीत किया है—इसके औचित्य और अनौचित्य का समस्त उत्तरदायित्व आपके संचालकों पर है। मैं प्रत्यक्षत: विज्ञान (विशेषतया रसायन शास्त्र) का विद्यार्थी रहा हूँ। आर्यसमाज के सम्पर्क से कतिपय अन्य क्षेत्रों में भी मैंने कुछ सोचा-समझा है। उसी आधार पर कुछ कहने का प्रयास करूंगा।

महर्षि दयानन्द की शिक्षा-दीक्षा कुछ विचित्र क्रम से हुई। घर से वैराग्य हुआ, गृहस्थी के झंझट में स्वयं फँसना न चाहा। काशी में जाकर पढ़ने का आग्रह रहा, पर वह भी पूरा न हुआ। ईश्वर की खोज में और मृत्यु पर विजय प्राप्त करने की आकांक्षा से घर से निकले। घर में कुछ संस्कृत पढ़ी थी, और पौराणिक पद्धति पर यजुर्वेद कण्ठस्थ किया था। वर्षों भाँति-भाँति के साधुओं के बीच में रहे। योग सीखने की उत्कट इच्छा थी। इस भ्रमणकाल में उन्हें शंकराचार्य सम्प्रदाय के कुछ ग्रन्थों को पढ़ने का अवसर मिला। वैष्णवों की अपेक्षा शैवों के प्रति उनकी अधिक आस्था थी। स्वभावत: प्रारम्भ में वे शंकर के अद्वैत सिद्धान्त के पोषक रहे होंगे। मालूम नहीं शंकर का शारीरक भाष्य उन्होंने पढ़ा था या नहीं। शायद **पञ्चदशी** ग्रन्थ अवश्य अच्छी तरह देखा था।

मैं संकेत और संक्षेप में यह बात कह दूँ कि शंकर के अद्वैतवाद के खण्डन में उन्होंने जो तर्क दिए हैं, उन पर रामानुजाचार्य के तर्कों का विशेष प्रभाव है। शंकर के अद्वैतवाद का गंभीर और सांगोपांग खण्डन श्रीभाष्य में श्री रामानुजाचार्य ने किया है, इस सम्बन्ध में कोई नया तर्क खोज निकालना आसान नहीं है। लगता है कि इस प्रसंग में महर्षि दयानन्द रामानुज के विचारों से अवगत थे।

स्वामी विरजानन्द के समीप आने पर महर्षि दयानन्द ने व्याकरण और महाभाष्य पढ़ा, और वेदभाष्य के समय उन्हें यास्क के निरुक्त ने प्रोत्साहित किया। यास्क की निरुक्तियों की पद्धति पर दयानन्द ने निरुक्तियों को विस्तार दिया। गुरु विरजानन्द के दार्शनिक विचार भी सम्भवतया शंकर के ही रहे होंगे, पर उन्होंने दर्शन के चिन्तन को अधिक महत्त्व नहीं दिया—वे वैयाकरण थे, अपने युग के सबसे बड़े—वस्तुत: पाणिनि और पतञ्जलि की परम्परा के।

स्वामी दयानन्द स्वयं परम्परा-पोषित दार्शनिक नहीं थे। सम्भवतया किसी भी गुरु से उन्होंने षड्दर्शनों का गम्भीर अध्ययन नहीं किया था, और यह अच्छा ही हुआ, अन्यथा वे किसी विशेष दार्शनिक विचारधारा के ही प्रतिष्ठापक रहते। ऋषि दयानन्द न नैयायिक थे, न मीमांसक, न सांख्य के अनुयायी, न योग के। वे अध्ययन के फलस्वरूप दार्शनिक नहीं बने, वे बने अपनी नैसर्गिक प्रतिभा से।

ऋषि दयानन्द की एक ही आस्था थी—वैदिक आस्तिकता, जिसके आधार पर उन्होंने आर्यसमाज को दो नियम दिये—

१. सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सबका आदिमूल ईश्वर है।

२. वेद सब **सत्यविद्याओं** का पुस्तक है, उसका पढ़ना-पढ़ाना सब आर्यों का परम धर्म है।

ईश्वर और वेद में दयानन्द की आस्था थी। वेदान्तदर्शन के आचार्य के शब्दों में **जन्माद्यस्य यतः** और **शास्त्रयोनित्वात्** इन दो सूत्रों का निचोड़ आर्यसमाज के इन दो नियमों में है। ऋषि दयानन्द षड्दर्शनों को वेद की आँखों से देखना चाहते थे। केवल उपनिषदों की आँखों से यदि आप दर्शन-साहित्य को समझना चाहें, तो वेदान्तदर्शन को ही आप समझ सकते हैं—कुछ थोड़ा-थोड़ा, यत्र-तत्र योग और सांख्य को भी। पर महर्षि दयानन्द षड्दर्शनों को वेद के परिप्रेक्ष्य में देखना चाहते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि स्वामी दयानन्द के पूर्व के आचार्यों को भी वेदों में सर्वोच्च निष्ठा थी, किन्तु किसी आचार्य ने भी अपनी दार्शनिक आस्थाओं का आधार प्रत्यक्षतः वेद मन्त्रों को नहीं बनाया। (उपनिषदों में अवश्य अनेक वेदमन्त्र उद्धृत हैं)। स्वामी दयानन्द ने अपनी प्रत्येक आस्था के लिए वेद की ऋचाओं को उद्धृत किया है। इस प्रकार समस्त वैदिकवाङ्मय में ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका और सत्यार्थप्रकाश प्रथम ग्रन्थ हैं, जिनमें वेदमंत्रों का मूल आशय लिया गया है, चाहें ईश्वर के स्वरूप का वर्णन हो, चाहें त्रैतवाद का प्रतिपादन हो, चाहें मुक्ति का विषय हों, चाहें बन्धमोक्ष या पुनर्जन्म का प्रतिपादन हो और चाहें वेद के नित्यत्व का विषय हो, या सृष्टि की उत्पत्ति का। आचारशास्त्र और मनोविज्ञान भी दर्शन या तत्त्वज्ञान के अंग हैं। स्वामी दयानन्द जब इन विषयों का प्रतिपादन करते हैं, तब भी वे वेदमंत्र उद्धृत करते हैं। समाजशास्त्र के लिए और राजनीति के लिए भी उनकी दृष्टि मूलतः वेद पर जाती है। आप सब जब अपनी गोष्ठियों में स्वामी दयानन्द की दार्शनिक विचारधारा पर विचार करें तो इस विशेषता पर सदा ध्यान रखियेगा।

इस सम्बन्ध में एक और संकेत कर दूँ, जो सम्भवतया आपके लिए महत्त्व का हो। वेद के मन्त्रों पर सायण और अन्य आचार्यों के भी भाष्य हैं। आप स्वामी दयानन्द के किये गए सीधे-सादे स्वाभाविक मंत्रार्थों की तुलना अन्य आचार्यों के मंत्रार्थों से करें तो आपको पता चलेगा, कि इन आचार्यों के मंत्रार्थ विनियोग और व्यर्थ के कर्मकाण्ड से बोझीले हो गए हैं। और उन मंत्रों से जो प्रेरणा मिलनी चाहिए थी, वह मिल ही नहीं रही। स्वामी दयानन्द ने मानों वेद के मंत्रों की सुभाषित सूक्तियों में नयी जान डाल दी हो। कर्मकाण्डों के बोझीले विनियोगों से दबे मंत्रों को श्रीपाद दामोदर सातवलेकर जी ने भी उबारने का सत् प्रयास किया। इस दिशा में महर्षि दयानन्द का प्रयास अति स्तुत्य और प्रशंसनीय है। दृते दृँ हवामहे, धियो यो नः प्रचोदयात्, यां मेधां देवगणाः, तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु, उपह्वरे गिरीणां, याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः, यथेमां वाचं, देवहितं यदायुः और बीसियों मंत्र ऐसे हैं, जो हमारे लिए जीवन में प्रेरणादायक हैं, पर अन्य आचार्यों के इन ऋचाओं पर दिए गए मंत्रार्थ व्यर्थ के और छूँछे हैं।

इस प्रकार हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि स्वामी दयानन्द की प्रत्येक प्रधान दार्शनिक आस्था का आधार साक्षात् वेद रहा है। इस दृष्टि से दूसरी बात स्वामी दयानन्द ने हमारे समक्ष प्रस्तुत की वह यह कि उनकी मान्यता थी कि वेदत्रयी अथवा चारों वैदिक संहिताओं का **एक ही दार्शनिक तत्त्वज्ञान** है। यह नहीं

है कि ऋग्वेद के दार्शनिक सिद्धान्त कुछ और हों, अथर्ववेद या यजुर्वेद के कुछ और। हम नहीं जानते कि प्रारम्भ में वैदिक युग में क्या था, बाद को एक युग ऐसा आया, कि प्रत्येक वेद की अलग-अलग शाखायें प्रचलित हो गयीं। प्रत्येक वेद का ब्राह्मण-ग्रन्थ अलग हुआ—ऋग् का ऐतरेय, यजुर्वेद का शतपथ, कृष्ण यजुर्वेद का तैत्तिरीय, साम का ताण्ड्य, अथर्व का गोपथ। प्रत्येक वेद के घराने अलग हो गए, और कर्मकाण्ड तो पृथक्-पृथक् धाराओं में प्रवाहित हुए। संध्या भी अलग, पूजा भी अलग, और प्रत्येक वेद की उपनिषदें भी अलग-अलग मानी गयीं। सामवेद की छान्दोग्य और केन, यजुर्वेद की ईश और बृहदारण्यक, अथर्व की प्रश्न और मुण्डक। स्वामी दयानन्द ने वेदत्रयी अथवा चारों वेद संहिताओं में समन्वय की बुद्धि हमें दी। आजकल के विद्वानों ने चारों वेदों के रचनाकाल में पूर्वापरता देखी। दयानन्द की सम्यग् दृष्टि में चारों वेदों में न कोई ऊँचा है, न कोई नीचा, चारों का एक ही तत्त्वज्ञान है। अतः स्वामी दयानन्द अपने सिद्धान्तों के पोषण में चारों वेदों को एकसा ही प्रामाण्य मानते हैं। स्वामी दयानन्द का त्रैतवाद, कर्म-फलवाद, समाजवाद, जो भी कुछ है, वह न तो ऋग् का है, न अथर्व का, न सामवेद और न यजुर्वेद का। वह सब ही चारों वेदों से पोषित है। उनमें परस्पर विरोध भी नहीं हैं, ऊँचे अथवा नीचे स्तर का तत्त्वज्ञान हो ऐसी भी बात नहीं—स्वामी दयानन्द की दृष्टि में सब सत्यज्ञान एक है। उनमें व्यवहार जगत् और परमार्थ जगत् का कोई भेद नहीं है। यह स्मरण रखना चाहिए कि चाहे शंकर स्वामी हों, चाहें रामानुज, मध्व या दयानन्द, सभी मानते हैं कि समस्त दश-ग्यारह प्राचीन उपनिषदों का दार्शनिक तत्त्वज्ञान एक ही है। जिस समन्वय बुद्धि का प्रतिपादन इन आचार्यों ने उपनिषद् क्षेत्र में रक्खा, उसी का दयानन्द ने वेदों के क्षेत्र में। ऐतिहासिक दृष्टि से वेदों के अध्ययन करनेवाले व्यक्तियों ने कभी-कभी ऐसे प्रयत्न किये मानों वैदिक विचारधारा का विकास विभिन्न युगों में हुआ हो, कुछ विद्वान् ऐसे भी हुए जिन्होंने यहाँ तक कह डाला कि वैदिक काल में विशुद्ध एकेश्वरवाद की कल्पना थी ही नहीं, पर महर्षि दयानन्द ने इस विचार को निर्मूल प्रमाणित किया। विभिन्न युगों में जनता में ईश्वर के विभिन्न नामों का प्रचार अधिक हुआ। ईश्वर के सम्बन्ध में वेदों का सर्वतम प्रिय पर्याय इन्द्र शब्द था—अन्य वैदिक पर्याय अग्नि, मित्र, वरुण, सवितृ, आदित्य, प्रजापति, सोम, ब्रह्म आदि विभिन्न युगों में और विभिन्न साहित्यों में ईश्वर के लिए अधिक रूढ़ हुए। परमात्मा, आत्मा, ईश्वर, परमेश्वर, प्रभु आज के युग के लोकप्रिय पर्याय हैं। ब्राह्मण-युग में प्रजापति, और उपनिषद् के युग में आत्मा और ब्रह्म शब्द अधिक लोकप्रिय रहे।

जो समन्वय बुद्धि वैदिक संहिताओं के सम्बन्ध में ऋषि दयानन्द ने दी, वही समन्वय बुद्धि ऋषि दयानन्द ने षड्दर्शनों के सम्बन्ध में दी। दयानन्द न

न्याय के विरोधी हैं, न वैशेषिक के, न सांख्य के, न योग के, न मीमांसाओं के। इधर कई शतियों से वेदान्तियों और वैशेषिकों में, सांख्यवादियों में, और मीमांसादियों में विवाद उत्पन्न हो गए थे। महर्षि दयानन्द ने आर्यसमाज के क्षेत्र में इस विवाद को सदा के लिए समाप्त कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि केवल आर्यसमाज के आचार्यों ने समन्वय बुद्धि से षड्दर्शनों की व्याख्या का प्रयास आरम्भ किया। दार्शनिक युग में यह नवीन मौलिक चिन्तन है। महर्षि दयानन्द ने केवल संकेत किया था। वेद के नित्यत्व पर विचार करते समय स्वामी दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका में सभी दर्शनों के सूत्र दिए हैं। इस पद्धति पर हमारे जिन आचार्यों ने स्तुत्य प्रयास किया है, उनमें स्वामी दर्शनानन्द जी, तुलसीराम गोस्वामी, श्री आर्यमुनि जी, श्री ब्रह्ममुनि जी और आचार्य उदयवीर जी के नाम प्रस्तुत किए जा सकते हैं। आर्यसमाज ने इसी समन्वय बुद्धि से षड्दर्शनों के प्राचीन आर्ष भाष्यों को भी प्रामाणिक माना। वैशेषिक पर प्रशस्तपाद, योग पर व्यास भाष्य, न्याय पर वात्स्सायन भाष्य, और वेदान्त पर अप्राप्त बोधायन भाष्य भी (जिसका उल्लेख यत्र-तत्र श्री रामानुज के श्रीभाष्य में हैं) ये सब समन्वय बुद्धि के प्रतिपादक थे। आर्यसमाज ने यह विचारधारा स्वीकार नहीं की कि बौद्धों के विचारों के प्रतिपक्ष में या उनकी प्रतियोगिता में षड्दर्शनों की रचना हुई। इधर आर्यसमाज के विद्वानों का ध्यान मीमांसा के शबर-भाष्य की ओर भी गया है। श्री पं. गंगाप्रसाद जी उपाध्याय ने शबर-भाष्य का हिन्दी अनुवाद किया, वह छप नहीं पाया। पं. युधिष्ठिर मीमांसक तो मीमांसा साहित्य के प्रकाण्ड आचार्य हैं ही; देखना है कि उनका प्रयास पूर्ण हो पाता है या नहीं।

आर्यसमाज षड्दर्शनों को समन्वय बुद्धि से क्यों देखता है? इसका एक विशेष कारण है। वेदों की, महर्षि दयानन्द की और आजकल के समस्त वैज्ञानिकों, और वैज्ञानिक-दार्शनिकों की कुछ मूलभूत आस्थायें हैं—(१) सृष्टि सत्य है, (२) सृष्टि के माध्यम से किसी पूर्ण कलाकार ने अपनी अभिव्यक्ति की है, (३) सृष्टि आकस्मिक घटना नहीं है—यह व्याप्त-अतिव्याप्त, अत्यन्ततम व्याप्त सूत्रों के आधार पर बनती और लीन होती है। ये नियम शाश्वत हैं। विभिन्न शास्त्रों में इनका अध्ययन और अनुशीलन होता है, (४) सृष्टि; प्रकृति का कोई प्रयोग नहीं है; यह अपने में, एवं अपने प्रत्येक चरण में पूर्ण है। प्रकृति के उपादानत्व की सार्थकता इन विकृतियों और अभिव्यक्तियों में ही है, (५) मनुष्य और अन्य प्राणियों का आविर्भाव सार्थक है—मिथ्या नहीं है, न स्वप्न है, न आभास है कि हम जन्मते, बढ़ते और मरते हैं। इस क्रम की उपादेयता है, (६) सृष्टि में अभिव्यक्त कलाकार की कला से कुछ परिचय प्राप्त करने की क्षमता

मनुष्य ऐसे प्राणी को विशेष रूप से है—इसीलिए मनुष्य ही आविष्कारक, वैज्ञानिक और दार्शनिक कहला सकता है (अन्य पशु और प्राणी इस बात में मनुष्य से भिन्न हैं)। (७) मनुष्य का मानस तन्त्र और उसकी इन्द्रियायें तत्वज्ञान के उपार्जन के निमित्त हैं। ये मायावी नहीं हैं, व्यर्थ नहीं है, मानवजीवन की पूर्णता के लिए हैं। (८) कलाकार की कृति का अध्ययन मनुष्य प्राचीन परम्परा से आजतक सतत करता आया है। इस अध्ययन ने विभिन्न वेदांगों, शास्त्रों और विभिन्न वैज्ञानिक क्षेत्रों को जन्म दिया। इन सभी क्षेत्रों के प्रति आदर की भावना होनी चाहिए। सभी क्षेत्रों की उपलब्धियों में समन्वय की भावना उत्पन्न होनी चाहिए। स्वामी दयानन्द ने षड्दर्शनों में इसी प्रकार की सद्भावना रक्खी। प्रत्येक आधुनिक तत्त्वज्ञानी को रसायन, भौतिकी, खगोल, प्राणिशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र (समस्त वेदांग; उपांग और उपवेदों), सभी के प्रति एक सी आस्था रखनी चाहिए। अन्धगज-न्याय के आधार पर सभी अपने-अपने क्षेत्रका अध्ययन करते हैं, और सब के तथ्यों को मिलाकर पूरे हाथी का कुछ आभास होता है।

आर्यसमाज जहाँ समस्त वेदों में और समस्त दर्शनों में समन्वय की भावना रखता है, उसी प्रकार का समन्वय-ज्ञान, उपासना और कर्मकाण्ड के बीच में भी मानता है। वेद स्वयं विद्या-अविद्या, सम्भूति-असम्भूति दोनों के समन्वय को स्वीकार करता है, अभ्युदय और निःश्रेयस, परा और अपरा विद्या, एवं सांख्य और योग मार्ग में भी समन्वय मानता है।

वेद, उपनिषद् और दर्शनों की दृष्टि से व्यवहार जगत् और परमार्थ जगत् अलग और असम्बद्ध नहीं हैं। शंकर स्वामी ने व्यवहार जगत् और परमार्थ जगत् का द्वन्द्व उपस्थित करके एक को हेय और त्याज्य और दूसरे को उपादेय बताया। विभिन्न योनियों के मार्ग से पूर्णता प्राप्त करना कोई व्यवहार जगत् की बात नहीं है। वरुण की पाशें भी वास्तविक हैं, और उनके बन्धन से उन्मुक्ति भी वास्तविक है। जागृत, स्वप्न, अनिद्रा, समाधि और मुक्ति सभी यथार्थ हैं—इनमें से कोई भी उपेक्षणीय नहीं है। परमात्मा ने बड़े अनुग्रह से हमारे शरीर के विभिन्न तन्त्र दिए हैं, जिनमें से कोई भी उपेक्षणीय नहीं है। शंकर स्वामी इनकी उपेक्षा कर सकते थे, पर आधुनिक तत्त्वज्ञान इनकी उपेक्षा नहीं कर सकता, इस वास्तविकता के आधार पर ही मनुष्य ने आज नया संसार बनाकर प्रस्तुत किया है। तत्त्वज्ञान को कर्मठ होना चाहिए, जीवन के रहस्यों को समझ कर बाह्य और अन्तर्जगत् में प्रवेश करने का प्रयत्न करना चाहिए। शंकराचार्य का अद्वैतवाद ऊपर से बड़ा मोहक है, पर है तो यह बौद्धों का विज्ञानवाद, शून्यवाद या प्रतिबिम्बवाद, जिसे उपनिषदों का जामा शंकर स्वामी ने पहना रखा है। भारत में शंकर स्वामी के अद्वैतवाद से न व्यक्ति को प्रेरणा मिली, न समाज को। अकर्मण्य तत्त्वज्ञान वेद के सिद्धान्त के सर्वथा विरुद्ध

है। वेद और दयानन्द के दर्शन को मैं अंग्रेजी में Philosophy of Dynamic Realism (प्रेरणात्मक यथार्थवाद) कहता हूँ। व्यवहार जगत् माया, अविद्या, भ्रमजाल या स्वप्नवत् (Static Monism) नहीं है। जो ब्रह्म निष्क्रिय हो, और जिस प्रकृति में विकृतियाँ संभव न हों—दोनों ही निरर्थक हैं। परिवर्तन अध्यास नहीं हैं—यथार्थ हैं। विज्ञान इनकी उपेक्षा नहीं करता, दर्शन को भी इनकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। यदि तत्त्वज्ञान की आधारशिला वह दर्शन होता जिसका प्रतिपादन शंकर स्वामी या उनके व्याख्याकार मनीषियों ने किया है, तो उससे आज की उपलब्धियों के प्रति हमें प्रेरणा न मिलती।

स्वामी दयानन्द का तत्त्वज्ञान न रहस्यवाद है, न स्वप्नवाद, और न जड़वाद या भौतिकतावाद। यह जीवन के समग्र-दर्शन का प्रतिपादन करता है। यह आस्तिक दर्शन है, जिसमें जीवन के उच्चतम मूल्यों के लिए भी स्थान है, और शारीरिक, आत्मिक, सामाजिक उन्नतियों के लिए भी। न यह विज्ञान का विरोधी है, और न नास्तिकता का पोषक।

दयानन्द दर्शन का आधार श्रुति और दर्शन शास्त्र दोनों हैं। साधारणतया मैं श्रुति और शास्त्र में थोड़ा सा अन्तर किया करता हूँ। श्रुति वे शाश्वत सत्य हैं, जिनमें यदि परिवर्तन हो तो अनर्थ हो जायगा, इसके विपरीत शास्त्र उस विकासशील ज्ञान का नाम है, जिनमें परिवर्तन न हो तो अनर्थ होगा। दुरितानि परासुव, कुर्वन्नेवेह कर्माणि, धियो यो नः प्रचोदयात्, भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम, शंयोऽभिस्रवन्तु नः, अदीनाः स्याम शरदः शतम्, स्वस्ति पन्थामनुचरेम—ये श्रुति वाक्य हैं—काल और देश में निरपेक्ष, सभी युगों में एक से सत्य। पर बैलगाड़ी हो या मोटर बस, कृषि कैसे की जाय, औषधि कौनसी कब खायी जाय, बम किस प्रकार के बने, पीतल का उपयोग हो, या स्टेनलैस स्टील का, काँच का उपयोग हो कि चीनी मिट्टी का, प्लास्टिक का—यह ज्ञान विज्ञान शास्त्र का विषय है। इसी प्रकार प्रमाण चार हैं या ५/७ यह शास्त्र का विषय है। इन क्षेत्रों में परिवर्तन और परिवर्धन होने ही चाहिए। दयानन्द-दर्शन इस प्रकार के परिवर्तन और परिवर्धन में पूर्ण आस्था रखता है। ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में अनुसन्धान, अध्ययन, अनुवीक्षा के यह पक्ष में है। दयानन्द की दृष्टि में इसका नाम यज्ञ है। हमें देखकर यह ग्लानि होती है कि हमारे पुरोहितों और कतिपय आचार्यों ने आर्यसमाज को ऐसे निरर्थक यज्ञों और पारायणों में फँसा रखा है, जिनसे दयानन्द ने अलग करने की हमें प्रेरणा दी थी।

ज्ञान-विज्ञान की विधियों में, इन्हें प्राप्त करनेवाले उपकरणों में, यंत्रों में, उनसे सम्बन्ध रखनेवाली गणित में, और उनके तथ्यों की परीक्षा करनेवाले तर्कशास्त्र में हमें आवश्यकतानुसार समय-समय पर परिवर्तन करना पड़ेगा।

अन्तरिक्ष में उड़नेवाले प्राणी की समय मापने की घड़ियाँ भी अलग होंगी। गौतम का न्यायदर्शन एक विशेष प्रकार का तर्कशास्त्र था। विज्ञान के क्षेत्र में हमने नये तर्कशास्त्रों की नींव डाली, जिसके आधार पर हमने प्रयोग-फलों से परिणाम निकाले (inductive logic)। इसी प्रकार जहाँ इन दोनों में काम नहीं चला, वहाँ हमने सांख्यिकी के तर्कों की गणित विकसित की। कम्प्यूटर की भाषा और उसकी गणित और भी भिन्न है। पंचज्ञानेन्द्रियों के क्षेत्रों का हमने उपकरणों और यंत्रों के माध्यम से विस्तार किया। आज हमारा प्रत्यक्ष "इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्न ज्ञानम्" ही नहीं है। दयानन्ददर्शन इस विकासशीलता को आशीर्वाद देता है। पुराने षड्दर्शनों को पढ़ो और उनके प्रतिपादित क्षेत्रों को विस्तार दो। पचं इन्द्रियार्यें, पञ्चतन्त्रमात्रायें, पंचमहाभूत—इस प्रकार के तर्क संहिता—तर्क (या रूपक तर्क कहलाते थे)। इस प्रकार के तर्कों के सम्बन्ध में हमें कभी-कभी सावधान रहना पड़ेगा। यह बात मैं संकेत में कह रहा हूँ।

दयानन्ददर्शन के आधुनिक तत्ववेत्ता को ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्रों में हुई गतिविधियों से अभिज्ञ होना चाहिये। उसे उच्चतम भौतिकी और गणित से परिचित होने की भी आवश्यकता है। गणित की अपनी विचित्र भाषा है, जिसमें पाणिनि और यास्क के नियम नहीं लगते। द्रव्य और गुण दोनों की विभिन्न स्थितियों को आजकल गणितीय सूत्रों में परिणत करना पड़ता है, और तभी हम सूक्ष्म अन्तरों को अभिव्यक्त कर सकते हैं। परमाणु-रचना या अणु-रचना आज रेखागणित की आकृतियों से व्यक्त नहीं की जाती। हमारे गणितीय सूत्र इनकी सूक्ष्म व्याख्या करते हैं। दयानन्ददर्शन की आधुनिकतम रूपरेखा देने में हमें सम्भवतया पुरानी परिभाषाओं और मान्यताओं को छोड़ना पड़ेगा। सम्भव है, आपमें कुछ मेरी इन बातों को स्वीकार करने के लिए तैयार न हों। मैं अपनी किसी बात के लिए आग्रह तो नहीं करता, फिर भी मैं चाहता हूँ कि आप मेरी बातों पर विचार करें। मनोविज्ञान का भी अध्ययन आपको नयी उपलब्धियों के परिप्रेक्ष्य में करना होगा। आर्ययुवक विद्वानों को सम्बोधित करके कहना चाहूँगा कि वे विज्ञान के बढ़ते हुए चरणों से अपने को अवगत कराते रहें। दयानन्द-दर्शन को समस्त ज्ञानविज्ञान से नवीन प्रेरणायें मिलेंगी। दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में कोई भी ऋषि-महर्षि पूर्णाप्त नहीं हो सकता। उसे ज्ञान के विकास के प्रति सदा जागरूक होना होगा। साथ ही साथ यह स्मरण रखना चाहिए कि ज्ञान का कहीं अन्त नहीं है—मनुष्य का ज्ञान सदा अपूर्ण और अपर्याप्त रहेगा। उसे इसी अपूर्ण और अपर्याप्त ज्ञान पर प्रत्येक युग में सन्तोष करना पड़ेगा, पर उसके चरण ज्ञानोपार्जन के मार्ग पर आगे ही बढ़ते रहने चाहिए।

आज के विज्ञान और तत्त्वज्ञान में एक और दिशा में विस्तार हुआ है। आज उसके ज्ञान का विषय मनुष्य या व्यक्ति नहीं है,—वह वर्ग या समष्टि के के रूप में विभिन्न चेतनाओं का अध्ययन करना चाहता है। यह ठीक है कि व्यक्ति से समाज बनता है, पर समाज की प्रवृत्तियाँ और मनोवृत्तियाँ व्यक्ति की प्रवृत्तियों से बहुत कुछ भिन्न भी होती हैं। बिन्दु से रेखा बनती है, रेखा से वृत्त पर बिन्दु, रेखा और वृत्त के गुण अपने निजी भी हैं। आधुनिक युग में सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य अपरिग्रह, शौच, सन्तोष आदि को समाज के मापदण्ड से, वर्गों की अपेक्षा से जानने और तौलने चाहिए। आज का आरोग्य शासन सार्वजनिक स्वास्थ्य (Public Health and Hygiene) की बात करता है, इसी प्रकार आज का आचारशास्त्र भी सार्वजनिक नैतिकता की बात करना चाहता है। इस प्रकार आज के इतिहास में व्यक्ति से अधिक महत्व समाज का है। समाज का, या किसी भी वर्ग का मनोविज्ञान व्यक्ति के मनोविज्ञान से सर्वथा भिन्न है। इसीलिए आज के विश्वविद्यालयों में मनोविज्ञान का अध्ययन-अध्यापन नये ढंग से प्रारम्भ हो गया है। मैं अपने आर्य परिवार के दार्शनिकों से कहूँगा कि वे दयानन्द-दर्शन का इन दिशाओं में परिवर्धन करें।

मैं नहीं जानता कि आप अपनी गोष्ठियों में किन-किन महत्वपूर्ण विषयों की चर्चा करेंगे। कभी-कभी दार्शनिक अपने क्षेत्रों में ऐसे व्यर्थ के प्रश्न उठा दिए करते हैं, जिनका कभी भी सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिल सकता। इस दृष्टि से वैज्ञानिक और दार्शनिक के दृष्टिकोण में अन्तर है। कुछ प्रश्न चिरकाल से चले आये हैं, उन पर कभी भी एक मत न होगा। वैज्ञानिकों में भी मतभेद होते हैं, पर उन पर बहुधा कुछ काल तक एक मान्यता हो जाती है, और फिर हम आगे बढ़ते हैं। वैज्ञानिक स्थूलता की ओर से सूक्ष्मता की ओर अग्रसर होता जाता है। दार्शनिक उलझता ही रहता है कि अण्डा पहले या मुर्गी पहले। वैज्ञानिक इस बात को अधिक महत्त्व देता है, कि अच्छी मुर्गी में अच्छा अण्डा कैसे मिले, और अच्छे अण्डे में अच्छी मुर्गी कैसे तैयार हो।

दयानन्द दर्शन की सरलता पर तो सब मुग्ध हैं, पर लगता है कि इससे लोगों को आत्मसन्तोष नहीं होता। लोगों को शून्यवाद और अद्वैतवाद में बड़ा आनन्द मिलता है। ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, सर्वं खल्विदं ब्रह्म, नेह नानास्ति किञ्चन, आदि घिसी-पिटी उक्तियों में लोग विभोर हो जाते हैं। पर वाक्य इस प्रकार के भी हैं—एकोऽहं बहु स्याम। विशुद्ध अद्वैतवाद के आधार पर बहुत्व का प्रादुर्भाव हो ही नहीं सकता—लोग यह भूल जाते हैं, और फिर उलटे-सीधे उपमानों और उदाहरणों के आधार पर व्याख्या करने का परिहास करते हैं। आर्यसमाज का

सिद्धान्त बहुत्व का सिद्धान्त है, एक ईश्वर, उपादान गुणों से युक्त प्रकृति और सदा रहने वाले असंख्य जीव। न्याय वैशेषिक, सांख्य, योग सबका यही सिद्धान्त है।

मैं पिछले वर्ष बर्मा गया था। रंगून में उपनिषदों पर मैंने व्याख्यान दिए। दक्षिण भारत के एक विद्वान् मेरे इन व्याख्यानों से बहुत सन्तुष्ट थे। अन्तिम व्याख्यान में मैंने यह कहा कि मुक्ति के बाद भी लौटना होता है। वे विद्वान् मेरे पास आकार कहने लगे कि आपने बना-बनाया खेल ही सब बिगाड़ दिया। मुक्ति के बाद या यदि लौटना होगा, तो उसमें जाकर ही क्या करेंगे? बाद को मैं समझा सका, कि यदि मुक्ति से लौटना न होता, तो आप उसमें जा भी नहीं सकते थे। जिस मुक्ति का प्रारम्भ है, उसका अन्त होगा ही। मुक्ति कर्मों के फलस्वरूप मिलती है। सान्त कर्मों का फल अनन्त नहीं हो सकता। स्पष्ट है कि अनेक दार्शनिक आस्थायें हमारे समाज में रूढ़ि बन चुकी हैं, और उनसे धीरे-धीरे ही हमें मुक्ति मिल सकेगी।

□□

महर्षि-दयानन्द दर्शन का वैशिष्ट्य

लेखक—आचार्य वीरेन्द्र शास्त्री, एम. ए. द्वारा

(चण्डीगढ़ दयानन्द-दर्शन-संगोष्ठी में १७-५-८१ को पठित निबन्ध)

१. दर्शन सब मनुष्यों के लिये अनिवार्य है। यह, मैं, वह=प्रकृति; जीवात्मा, परमात्मा-यही दर्शन के प्रतिपाद्य विषय हैं।

स्वामी दयानन्द सरस्वती क्योंकि ऋषि=मन्त्रद्रष्टा थे अतः दार्शनिक थे [ऋषिर्दर्शनात् (नि०)] ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका में अर्थापत्ति से उन्होंने स्वयं अपने को ऋषि बताया है। पूर्वाचार्यों के किये गये कर्मकाण्ड-मय वेदार्थ को 'अनृषिवत्' पुनः करना उचित न बताकर व्यंजना से उन्होंने अपने को 'ऋषि' घोषित किया। गौतम, कणाद, कपिल, पतञ्जलि, जैमिनि और व्यास के पश्चात् वे इस युग में सातवें महान् दार्शनिक के रूप में अवतीर्ण हुए थे। सत्यार्थप्रकाश उनका महान् दार्शनिक ग्रन्थ है।

२. दर्शनों की गणना उपाङ्गों में की जाती है। उपाङ्ग के दो अर्थ होते हैं—(१) अङ्गों का अङ्ग और (२) समीप का अङ्ग। यदि पहला अर्थ लिया जाये तो दर्शनशास्त्र ६ वेदाङ्गों में से व्याकरण, निरुक्त, छन्दः और ज्योतिष का अङ्ग नहीं हो सकता। इसे यदि वेदाङ्ग शिक्षा अथवा कल्प का अङ्ग मानें तो इसे उपाङ्ग कह सकते हैं। यदि शिक्षा वर्णोच्चारणादि के अतिरिक्त 'विचारों' की भी शिक्षा मानी जाये तब यह दर्शन वेदाङ्ग 'शिक्षा' के अन्तर्गत आ सकता है। किन्तु यह विद्वानों को मान्य नहीं। इसी प्रकार यदि वेदाङ्ग 'कल्प' में जैसे यज्ञों की कल्पना (रचना) को 'कल्प' माना गया है उसी प्रकार विचारों की कल्पना को भी 'कल्प' माना जाये तो दर्शन शास्त्र को कल्प का अङ्ग मानकर उपाङ्ग माना जा सकता है। किन्तु ये दोनों उपर्युक्त बातें मान्य न कर महर्षि दयानन्द ने दर्शन को उपाङ्ग माना। अतः उपाङ्ग का अर्थ अङ्ग का अंग न कर यदि वेदपुरुष के समीप का अंग (अन्तःकरण=मन के समान) माना जाये तो दर्शन-शास्त्रों को वेद का उपांग कहना अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि दर्शन-शास्त्र वेदांगों की अपेक्षा भी वेद के अधिक समीप के भाग हैं और वेदपुरुष के समीपतम अंग (अन्तःकरण के समान) हैं।

※ ३. दयानन्द-दर्शन की ३ विशेषताएँ ※

(१) ईश्वर का प्रत्यक्ष। "जब जीवात्मा शुद्ध होके परमात्मा का विचार करने में तत्पर रहता है, उसको उसी समय दोनों प्रत्यक्ष होते हैं। जब परमेश्वर का प्रत्यक्ष होता है तो अनुमानादि से परमेश्वर के ज्ञान होने में क्या सन्देह है ?" (सत्यार्थप्रकाश तीसरा समुल्लास)

न्याय की प्रत्यक्ष की परिभाषा में 'इन्द्रियार्थ०' सूत्र में 'इन्द्रिय' से मन का भी ग्रहण होता है।

वेदाहमेतम् पुरुषम् महान्तम् आदित्यवर्णम् तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वा अतिमृत्युम् एति नान्यः पन्थाः विद्यतेऽयनाय॥
(यजुर्वेद अध्याय ३१, मन्त्र १८)

आत्मना आत्मानम् अभिसंविवेश॥ (यजु० ३२.११)
त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि।
(तैत्तिरीय आरण्यक ७-१)

(२) मुक्ति से पुनरावृत्ति।

(३) जीवात्मा को कर्मफल अवश्य भोगना है। वह क्षमा नहीं किया जा सकता।

※ ४. दयानन्द-दर्शन के आधार ※

(१) प्रथम आधार वेद है और तदनुसार ईश्वर का अस्तित्व मानने और वेद की प्रशंसा करने के कारण दयानन्द-दर्शन वैदिक आस्तिक दर्शन है।
(आ० स० का तीसरा नियम)

शंकराचार्य वेद तक नहीं पहुँचे। ३५ वर्ष का यह युवक शूद्रों के वेद सुनने पर कान में सीसा डालने और पढ़ने पर जिह्वाछेदन करने की बात करता है।

(२) पूर्ववर्ती ६ आस्तिक दर्शनों—(न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्त) में समन्वय की भावना।

(३) त्रित्ववाद—परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति का भिन्न पृथक्-पृथक् अस्तित्व है। प्रकृति और जीवों में व्यापक परमात्मा—ये तीनों मिले हुए हैं।

अद्वैतवादी शंकर प्रच्छन्न बौद्ध थे (कर्म को छोड़ दिया, ब्रह्म को सिद्ध किया। जैमिनि ने ईश्वर को छोड़ दिया, वेद और कर्म को सिद्ध किया) 15-1

त्रित्ववाद में प्रमाण—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। 62:3
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥
[ऋग्वेद १.१६४.२०
२१]

अथ: केशिन: ऋतुथा विचक्षते संवत्सरे वपते एक एषाम् ।
विश्वमेको अभिचष्टे शचीभि: ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम् ।।
[ऋग्वेद १.१६४.४४; अथर्व० ९.१०.२६]

बालादेकमणीयस्कम् उतैकं नैव दृश्यते ।
तत: परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया ।। अ० [१०.८.२५]

रेतोधा आसन् महिमान आसन् ।
स्वधा अवस्तात् प्रयति: परस्तात् ।।
[नासदीय सूक्त ऋग्वेद १०।१२९।५]

(४) जीवात्मा का लक्ष्य मोक्ष है ।

न्याय-दर्शन १.१—तत्त्वज्ञानात् नि:श्रेयसाधिगम:,
तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्ग: ।

वैशेषिक १.१.४—तत्त्वज्ञानात् नि:श्रेयसम् ।।

विद्ययाऽमृतमश्नुते ।। [यजु० ४०.१४]

यत्र देवा अमृतमानशानास् तृतीये धामन्नधि ऐरयन्त ।। [यजु० ३२.१०]

(५) परमेश्वर का मुख्य नाम ओ३म् है, अन्य नाम गौण हैं—

ओं क्रतो स्मर, ओ३म् प्रतिष्ठ, ओ३म् खम्ब्रह्म ।

आर्यसमाज के प्रथम और द्वितीय नियम में उस ओ३म् का २३ विशेषणों द्वारा वर्णन किया है ।

(६) प्रकृति (माया-स्वधा) से सृष्टि की उत्पत्ति होती है । आदिसृष्टि में, अमैथुनी रूप से युवा पुरुषस्त्रियाँ उत्पन्न हुईं ।

दयानन्द-दर्शन में सृष्टि-विज्ञान भी सम्मिलित है । 'जिसे आजकल 'साइंस' कहते हैं ।

जीवात्मा का स्वरूप

जीवात्मा क्रियावान्, गुणवान् द्रव्य हैं; अनेक है; अनादि, नित्य, चेतन, अमर हैं । यह जड़ तत्त्वों से नहीं बनता; इसे परमात्मा नहीं बनाता; यह गुण कर्म, स्वभाव में ईश्वर से भिन्न है । (न्याय में इच्छा आदि ६ और वैशेषिक में २४ गुण बताये हैं ।) जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र तथा कर्म का फल भोगने में ईश्वर की व्यवस्थानुसार परतन्त्र है । कर्मानुसार विभिन्न योनियों में जन्म लेता है । जीवों के पाप ईश्वर कभी क्षमा नहीं करता । वृक्ष भी योनि है । हरित शाक खाने से जीव को पीड़ा नहीं होती क्योंकि वह उस योनि में अत्यन्त अन्धकार, महासुषुप्ति और महानशा में होता है । जीवात्मा जगत् का साधारण निमित्त कारण है । वह

परिच्छिन्न है, विभु नहीं। वह सब योनियों में एकसा रहता है। जीवात्मा की २४ प्रकार की शक्तियाँ हैं। (सत्यार्थप्रकाश नवम समुल्लास)

३३ देवताओं में—११ रुद्रों में एक रुद्र जीवात्मा भी है। वह प्रकृति के वश में हो जाने से दोषयुक्त हो जाता है, विद्या और तप से शुद्धि होती है। ओ३म् के जप और प्राणायाम से, ब्रह्मचर्य और योगाभ्यास से, सुषुम्णा में योग करने से जीव शुद्ध होता है। (सितासिते० भूमिका ग्रन्थ प्रामाण्या०)।

जीवात्मा को मोक्ष तथा कर्मफल देने के लिये जगत् की उत्पत्ति होती है।

मुक्ति के ४ साधन हैं—१. विवेक, २. वैराग्य, ३. षट्कसम्पत्ति (शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान) ४. मुमुक्षुत्व। सत्यभाषण, परोपकार, धर्म, विद्या, स्तुति-प्रार्थना-उपासना भी मुक्ति के साधन हैं। मुक्ति से जीवात्मा की पुनरावृत्ति होती है। मुक्ति में जीवात्मा बिना शरीर के अभौतिक सूक्ष्म शरीर (संकल्पशक्ति) से आनन्द भोगता है।

मुक्ति की अवधि परान्तकाल (३६ हजार बार सृष्टि की उत्पत्ति-प्रलय) अर्थात् ३१ नील, १० खरब, ४० अरब वर्ष की होती है।

'जीवात्मा' के ३ शरीर स्थूल, सूक्ष्म, कारण और फिर तुरीय चौथा भी है, ३ अवस्थायें (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति), ५ कोष (आनन्दमय, विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, अन्नमय) हैं। जीवात्मा पाप से नरक (दुःख विशेष और उसके साधन) को और पुण्य से स्वर्ग (सुख विशेष और उसके साधनों) को प्राप्त करता है।

७—जीवात्मा का शरीर में स्थान—'कण्ठ के नीचे दोनों स्तनों के बीच में और उदर के उपर जो हृदयदेश है, जिसको ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं उसके बीच में जो गर्त है, उसमें कमल के आकार वेश्म अवकाश रूप एक स्थान है।' [ऋग्वेदादि भाष्य-भूमिका उपासना प्रकरण]।

इसके प्रमाण—

हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु। [यजुर्वेद ३४.८]

मूर्धानमस्य संसीव्य अथर्वा हृदयं च यत्॥ [अथर्व० १०.२.२६]

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यः, तासु मूर्धानमभिनिःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति, विष्वङ् अन्या उत्क्रमणे भवन्ति॥
[छान्दोग्य० ८.६.६ तथा कठ० २.६.१६]

ऊर्ध्वम् प्राणम् उन्नयति अपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते॥ [कठ उपनिषद् २.५.३]

श्येन-याग में इष्टका निर्मित सुपर्ण के आकार में मध्यभाग में ही केन्द्र (आत्मा का स्थान) माना जाता है।

मृत्यु—स्थूल शरीर का त्याग है। जन्म—सूक्ष्म शरीर (मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार) और प्राणों के साथ, दूसरी योनि में कुछ स्वल्पकाल पश्चात् प्रवेश करना है।

सामाजिक दर्शन

व्यष्टि और समष्टि—व्यक्ति और समाज की दृष्टि से दर्शन का व्यापक अर्थ करने पर, सामाजिक दर्शन प्रस्तुत होता है। जिसमें ४ वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) और ४ आश्रम के रूप में वैदिक समाजवाद के दर्शन होते हैं।

ऋग्वेद के अन्तिम संगठन सूक्त (१०-१९१) और अथर्ववेद के सांमनस्य सूक्त (३.३०) में यह दर्शन प्राप्त होता है—

सं गच्छध्वम् सं वदध्वम् सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥

[ऋग्वेद १०.१९१.२-४]

सहृदयं साम्मनस्यम् अविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यम् अभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु सम्मनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि ।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यत अरा नाभिमिवाभितः ॥

[अथर्ववेद ३-३०-१,२,३,६]

उपर्युक्त मन्त्रों में वैदिक समाजवाद का दर्शन प्राप्त होता है ।

इसी के साथ शिक्षाका दर्शन—ब्रह्मचर्य, 'गुरुकुल आर्ष पाठविधि', बालक-बालिकाओं की पृथक्-पृथक् शिक्षा, श्रम की महत्ता आदि में प्रस्तुत किया गया है ।

अन्त में मैं दयानन्द पीठ चण्डीगढ़ विश्वविद्यालय और उसके अध्यक्ष डा० भवानीलाल भारतीय के सत्प्रयत्नों की सराहना और भविष्य में सफलता की शुभ कामना करता हूँ । ※ ※

□□

ऋषि दयानन्द के दार्शनिक विचार

लेखक—श्री बालकृष्ण दीवान, वेदालंकार

पश्चिम के विद्वानों के मतानुसार दर्शनशास्त्र का प्रयोजन ज्ञान की पिपासा को शान्त करना है और उसका मुख्य विषय अन्तिम सत्ता के स्वरूप के सम्बन्ध में तात्त्विक विवेचन करना है परन्तु इसका जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में किसी प्रकार का प्रभाव परिलक्षित होना आवश्यक नहीं है। इसके विपरीत भारतीय मनीषी दर्शन को जीवन के प्रति समग्रदृष्टि मानते हैं और इसके द्वारा वे जीवन की विविध समस्याओं का समाधान ढूंढते हैं। उदाहरणार्थ प्रकृतिवादी दर्शन भोगवाद की ओर प्रवृत्त करता है और ब्रह्मवादी दर्शन पलायनवाद की ओर प्रेरित करता है, तो समन्वयवादी दर्शन दोनों अतिवादों से बचाकर व्यक्ति और समाज का यथार्थ दिशा की ओर मार्गदर्शन करता है। ऋषि दयानन्द के दार्शनिक विचारों को सत्यार्थवादी या समन्वयवादी कहा जा सकता है। उनके सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक विचारों की आधारशिला उनके दार्शनिक विचार ही हैं। उनके जीवन के समस्त कार्यकलाप को समझने की कुंजी वस्तुः उनकी दार्शनिक विचारधारा में निहित है। उनके दार्शनिक विचारों का अन्य दार्शनिकों के साथ तुलनात्मक परिचय प्रस्तुत करने का प्रयत्न अगली पंक्तियों में किया गया है।

विश्व के समस्त दर्शनशास्त्रों को अन्तिम तत्वों की संख्या के आधार पर शून्यवाद, अद्वैतवाद, द्वैतवाद या बहुत्ववाद कहा जा सकता है। शून्यवाद बौद्धों का मान्य सिद्धान्त है। इसके अनुसार विश्व के सभी प्रतीयमान पदार्थ दीपशिखा या नदी के प्रवाह के समान प्रतिक्षण नवीन रूप धारण करते रहते हैं। वे वस्तुतः क्षणिक होते हैं, परन्तु स्थायी प्रतीत होते हैं। जैसे दीपशिखा के बुझ जाने पर उसका सर्वथा अभाव हो जाता है इसी प्रकार समस्त पदार्थों का विनाश के बाद कुछ भी शेष नहीं रहता। विश्व में स्थायी, कूटस्थ तथा अपरिवर्तनशील सत्ता कोई भी नहीं है। इसलिए मौलिक जगत् के मूल उपादान कारण 'प्रकृति' की सत्ता में कोई प्रमाण नहीं हैं और न ही विश्व ब्रह्माण्ड के रचयिता, धाता, संहर्त्ता ईश्वर की सत्ता है। दीपशिखा के समान प्रतिक्षण नवीन रूप धारण करनेवाली चित्तवृत्तियों या विज्ञानधारा के अतिरिक्त किसी चितिरूपा नित्य आत्मा की सत्ता भी नहीं है।

इस शून्यवाद व क्षणिकवाद से जीवन और जगत् के मूल, विकास व उद्देश्य की किंचित्मात्र भी व्याख्या नहीं होती। इन मौलिक प्रश्नों के सम्बन्ध में यह दर्शन 'अज्ञेयवाद' का आश्रय लेता है। अज्ञेयवाद का अभिप्राय है कि ऐसे प्रश्नों का उत्तर मिलना अशक्य है अतः इस प्रकार के प्रश्न करना निरर्थक है। जिज्ञासु मन ऐसे प्रश्नों का समाधान प्राप्त करने के लिए सदा यत्नशील रहता है। अज्ञेयवाद के द्वारा उसे सन्तुष्ट नहीं किया जा सकता। इस के अतिरिक्त शून्यवाद जीवन के प्रति अनास्था और विरक्ति की भावना उत्पन्न करता है, जिसके फलस्वरूप मनुष्य कर्त्तव्य-पालन के मार्ग का परित्याग करके जीवन और जगत् से पलायन करने लगता है। और जगत् से पलायन करना जीवन के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण नहीं है, इसलिए यह दर्शन ऋषि दयानन्द को मान्य नहीं है।

अद्वैतवाद के अनुसार अन्तिम तत्त्व 'अद्वैत' अर्थात् एक ही है। उस वाद के अनुसार 'एक' तत्त्व के आधार पर विश्व के नाना रूपों की व्याख्या की जाती है। यह अन्तिम 'एक' तत्त्व चित् या अचित्, चेतन या अचेतन व जड़ हो सकता है। अध्यात्मवादी (Spiritualist) अन्तिम एक सत्ता को चेतन मानते हैं और उसे 'ब्रह्म' कहते हैं और प्रकृतिवादी उस अन्तिम एक सत्ता को 'प्रकृति' की संज्ञा देते हैं जो अचेतन व जड़ हैं। अचेतन व जड़ सत्ता स्वयं योजनाबद्ध विविधरूप धारण करने में असमर्थ है। उसे गति व प्रेरणा देनेवाली किसी अन्य सत्ता की अपेक्षा रहेगी। यदि वह स्वयं ही गतिशील हो सकती है और योजनाबद्ध ढंग से विविधरूप धारण कर सकती है तो वह अचेतन व जड़ न रहेगी, क्योंकि योजनाबद्ध विकास अचेतन का कार्य कदापि नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त प्रकृतिवाद का जीवन पर प्रभाव 'भोगवाद' है। सांसारिक सुख-भोग ही जीवन का एकमात्र चरम लक्ष्य रह जाता है, क्योंकि प्रकृतिवाद के अनुसार मानव के नैतिक कर्त्तव्य निरर्थक ही हैं। यही जीवन, जीवन-संघर्ष में सफलता, अधिक से अधिक उपभोग्य पदार्थों का संग्रह तथा उनके द्वारा प्राप्य इन्द्रियसुख की प्राप्ति के लिए परपीड़न, प्रवंचना तथा छलछिद्र का आश्रय लेने में कोई अनौचित्य नहीं रह जाता। ऐसा दर्शन ऋषि दयानन्द को कदापि मान्य नहीं हो सकता।

प्रकृतिवाद शंकराचार्य को भी मान्य न था। उन्होंने ब्रह्म को अन्तिम अद्वैत सत्य माना, जो कि चित्स्वरूप है। ब्रह्म ही नानारूपात्मक जगत् का मूल है। ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है और जीवात्मा भी ब्रह्म से भिन्न नहीं है। 'शंकराचार्य' ने चितिशक्ति 'ब्रह्म' द्वारा नानारूपात्मक जीवन और जगत् की व्याख्या के लिए 'अविद्या' की कल्पना की। ब्रह्म में अविद्या के योग से जीवन और जगत् स्थिति में आए। अविद्या ही नानारूपात्मक जगत् का कारण है। रज्जु में सर्प, शुक्ति में रजत की भ्रान्ति के समान जगत् अध्यास मात्र है। जैसे रज्जु और शुक्ति के यथार्थ स्वरूप के ज्ञान से सर्प और रजत का भ्रान्त ज्ञान स्वयमेव

विनष्ट हो जाता है, इसी प्रकार ब्रह्मज्ञान होने पर नानारूपात्मक जगत् का ज्ञान विनष्ट हो जाता है। अविद्या के खण्ड अर्थात् उपाधि में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब ही जीवात्मा है। अविद्या के विनाश अर्थात् ज्ञान के द्वारा जीवात्मा को अपने ब्रह्म-स्वरूप का ज्ञान होने पर जीवात्मा की पृथक् सत्ता जो केवल प्रतीयमान है यथार्थ नहीं, स्वयंमेव विलुप्त हो जाती है। शंकर के अनुसार प्रतीयमान संसार व्यावहारिक दृष्टि से सत्य है परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से असत्य है। पारमार्थिक सत्य तथा व्यावहारिक सत्य भिन्न-भिन्न हैं। परमार्थ अर्थ 'ब्रह्मरूप' का ज्ञान होने पर 'व्यावहारिक जगत्' ऐसे लुप्त हो जाता है जैसे जागृत अवस्था में आने पर स्वप्न जगत् नहीं रहता।

शंकर ने अद्वैत ब्रह्म की सत्ता स्वीकार करके जीवन और जगत् की व्याख्या के लिए अनेक दुरूह कल्पनाओं का आश्रय लिया। क्या अविद्या ब्रह्म है या ब्रह्म से भिन्न सत्ता है? यदि अविद्या भी ब्रह्म है तो प्रकाश में अन्धकार का योग कैसे हो सकता है? यदि अविद्या ब्रह्म से भिन्न तत्त्व है तो 'अद्वैत' न रहा। इसके अतिरिक्त दृश्यमान जगत् को स्वप्नसदृश मिथ्या मानने का कोई आधार नहीं। स्वप्न में मनुष्य उन्हीं दृश्यों को देखता है जो प्रायः वह जागृत अवस्था में देख व अनुभव कर चुका होता है। जागृत दृश्यमान जगत् की सत्यता के बिना स्वप्न के दृश्य नहीं देखे जा सकते। यदि किसी व्यक्ति ने यथार्थ सर्प को कभी न देखा हो तो वह रज्जु में सर्प की भ्रान्ति का शिकार कदापि नहीं हो सकता। इसलिए दृश्यमान जगत् को मिथ्या व भ्रान्ति मानने का कोई आधार नहीं है। इसी प्रकार कर्मफल भोक्ता आत्मा को कर्मविपाक से अपरामृष्ट ईश्वर से अभिन्न मानने का भी कोई संगत आधार नहीं है। इसके अतिरिक्त शंकर ने पारमार्थिक और व्यावहारिक सत्य भिन्न-भिन्न मानकर शून्यवादियों के सदृश जीवन और जगत् से पलायन का ही मार्ग अपनाया। इसलिए शून्यवादियों के समान शंकर का अद्वैतवाद भी जीवन और जगत् के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण का नहीं हो सकता।

शंकर के अद्वैतवाद की विसंगतियों को दूर करने के लिए रामानुज ने विशिष्टाद्वैत, मध्व ने द्वैत और निम्बार्क ने द्वैताद्वैत या भेदाभेद के दर्शनों का प्रतिपादन किया। इन दार्शनिकों ने शंकर के समान जीवन और जगत् को मिथ्या नहीं माना। इनके अनुसार ब्रह्म भी सत्य है और जगत् भी सत्य है। पारमार्थिक सत्य तथा व्यावहारिक सत्य में परस्पर विरोध नहीं है, वे दोनों सत्य हैं और एक दूसरे के पूरक हैं। विशिष्टाद्वैत ब्रह्म चिद्विशिष्ट और अचिद्विशिष्ट मानता है। इसके अनुसार ब्रह्म ही जीवन और जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। इससे स्पष्ट है कि इस वाद के अनुसार चित् और अचित् दोनों मूल रूप से भिन्न सत्ताएं हैं। ब्रह्म दोनों की समान संज्ञामात्र है। विशिष्टाद्वैतवादी आत्मा को ब्रह्म का अंश मानते हैं, मुक्ति अवस्था में भी उसकी ब्रह्म से पृथक्ता बनी रहती है इस प्रकार

विशिष्टाद्वैत वाद में अचित् सत्ता—प्रकृति, चित्सत्ता—ब्रह्म तथा आत्मा की विभिन्नता परोक्षरूप से स्वीकार की गई है। मध्व के द्वैतवाद तथा निम्बार्क के द्वैताद्वैत में ईश्वर, प्रकृति तथा आत्मा इन तीन तत्त्वों को अनादि, नित्य तथा विभिन्न सत्ता के रूप में मान्यता को अधिक स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है। इन आचार्यों ने शंकर के अद्वैतवाद के सिद्धान्त 'ब्रह्म सत्य', जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः' का निराकरण किया है। ऋषि दयानन्द के दार्शनिक विचार-धारा में इस प्रक्रिया को अन्तिम रूप प्राप्त हुआ है। ऋषि दयानन्द के दर्शन के अनुसार अन्तिम तत्त्व एक नहीं, अनेक हैं। इस विश्व ब्रह्माण्ड का उपादान कारण 'प्रकृति' है, निमित्तकारण ईश्वर है और अनेक आत्माओं के मोक्ष अपवर्ग के लिए ईश्वर ही प्रकृति से इस जगत् की सृष्टि करता है, इसे धारण करता है तथा इसका प्रलय करता है। यह वेदानुमोदित सिद्धान्त है, इसकी पुष्टि 'द्वा सुपर्णा' आदि श्रुति वाक्यों द्वारा होती है।

ये तीनों ही तत्त्व अनादि और अनन्त है तथा नित्य हैं। 'अहमस्मि' अर्थात् मैं हूँ। यह सर्वमान्य अनुभूति है जिसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। इस अनुभूति का विषय 'आत्म तत्त्व' है। सत् आत्मतत्त्व का कदापि अभाव नहीं हो सकता क्योंकि नाभावो विद्यते सतः। इसलिए आत्मतत्त्व नित्य है, यह तथ्य स्वयं सिद्ध सा ही है, इसके लिए किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं है।

व्यवहार की क्षमता ही ज्ञान की सत्यता की कसौटी है। यदि शुक्ति को भ्रान्ति वश रजत समझ लिया जाए तो उसके द्वारा रजत के आभूषण नहीं गढ़वाए जा सकते और यदि गढ़वाए जा सकते हैं तो रजत-ज्ञान सत्य है। इसलिए किसी ज्ञान या बोध की सत्यता व असत्यता, यथार्थता व अयथार्थता उसके उपयोग व व्यवहार से आंकी जा सकती है। निर्दोष इन्द्रियों द्वारा प्राप्त वाह्य संसार का ज्ञान सामान्यतया यथार्थ ही होता है, क्योंकि उस बोध या ज्ञान के आधार पर हमारा सारा सांसारिक व्यवहार संचालित होता है, अतः बाह्य जगत् की सत्यता व यथार्थता सभी को मान्य होती है। बाह्य भौतिक जगत् का मूल उपादान कारण 'प्रकृति' है। प्रकृति की नित्य सत्ता स्वीकार किए विना वाह्य जगत् की व्याख्या कर सकना सम्भव नहीं। प्रकृति जड़ व अचेतन सत्ता होने के कारण स्वयमेव नानरूप धारण नहीं कर सकती। प्रकृति के परिवर्तन से उत्पन्न विश्व ब्रह्माण्ड के उत्पत्ति, स्थिति व प्रलय आदि महान् कार्य जीवात्मा की सामर्थ्य में भी नहीं है। जीवात्मा तो अपने शरीर की रचना नहीं कर सकता। अतः प्रकृति और आत्मतत्त्व से भिन्न विश्व ब्रह्माण्ड की सृष्टि, स्थिति व प्रलय करनेवाले 'ईश्वर' की मान्यता स्वीकार करना आवश्यक है।

इन तीनों तत्त्वों की अनादिता स्वीकार करने पर परमार्थ और व्यवहार की विभिन्नता समाप्त हो जाती है। परमार्थ को निःश्रेयस तथा व्यवहार को अभ्युदय

कहा जाता है। नि:श्रेयस का अर्थ है आत्मिक कल्याण और अभ्युदय का अर्थ है सांसारिक सुखवैभव। मनुष्य के जीवन का उद्देश्य केवल नि:श्रेयस व केवल अभ्युदय नहीं। इस दर्शन के अनुसार 'यतो अभ्युदयनि:श्रेयससिद्धि: स धर्म:। सांसारिक सुख वैभव का उपयोग भी त्याज्य नहीं परन्तु उसका प्रयोजन नि:श्रेयस अर्थात् अन्तिम कल्याण होना चाहिए। बुद्ध का शून्यवाद और शंकर का अद्वैतवाद त्याग व संसार से पलायन को प्रोत्साहित करते हैं और प्रकृतिवाद केवल सांसारिक विषयों के उपभोग को ही साध्य मानता है। दोनों दृष्टिकोण अतिवादी हैं और उनके अनुरूप जीवनयापन मानव के लिए हितकारी नहीं है। ऋषि दयानन्द का दर्शन इन दोनों दृष्टिकोणों में समन्वय स्थापित करता है। इसलिए इसे समन्वयवादी दर्शन कह सकते हैं। युक्ति, सामान्यबुद्धि और नैतिकता के आधार पर इसके औचित्य को समझा जा सकता है। ऋषि दयानन्द के स्वस्थ सामाजिक दर्शन का आधार उनका समन्वयवादी दर्शन है। इसलिए उन्होंने शारीरिक, सामाजिक और आत्मिक उन्नति करना मानव का लक्ष्य निर्धारित किया और व्यक्ति को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रह कर सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझना ही श्रेयस्कर माना है।

□

"महर्षिदयानन्ददर्शनस्य वैशिष्ट्यम्"

लेखक—डॉ० ब्रह्मानन्द शर्मा
भूतपूर्वाध्यक्ष : अजमेरस्य राजकीये महाविद्यालये संस्कृत विभागस्य

महर्षिदयानन्दस्य दर्शनं सत्यदर्शनमस्ति । सत्यमस्माकं समीहितम् । अत एवोक्तम्—असतो मा सद् गमय । एतत् सत्यं ज्ञानरूपम् । अत उक्तम्—तमसो मा ज्योतिर्गमय । एतच्च नो निःश्रेयसकरम् । अतः प्रोक्तम्—मृत्योर्मा अमृतं गमय । एष एव ईश्वरः । सत्यस्वरूपोऽयमीश्वरः सर्वसत्यविद्यानां मूलम् । आसामेव सत्यविद्यानां वेदरूपेण स्थितिरिति वेद ईश्वरकर्तृक ईश्वरीयं ज्ञानं वेत्यायातम् । अत्र श्रुतिरपि विद्यते—

"तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे । छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ।।" (यजु० ३१:७)

"अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदश्च ।" (श० ब्रा० १४।५।४।१०)

ईश्वरातिरिक्तमस्मदादिरूपेण यत् तत्त्वं स जीवः । एष अल्पज्ञः । अस्मिन् जीवे सत्यस्य या प्रतीतिः सापि आंशिकी । अत्र च कारणमज्ञानमेव । अज्ञानमेतदावरणरूपम् । आवरणञ्च ज्ञाने । ज्ञानस्य स्थितिर्बुद्धौ इति बुद्धौ अज्ञानस्यावरणम् । अस्यावरणस्य निराकरणमीश्वरोन्मुखत्वेन । एतदेवेश्वरोपासनम् । अत एव गायत्रीमन्त्रे प्रोक्तम्—"धियो यो नः प्रचोदयात्" । अत्र सहायभूतमीश्वरीयज्ञानानुसरणम् । एष एव वेदविहितो मार्गः ।

उपरि यस्यावरणस्योल्लेखस्तस्य स्वत एव स्थितिः । परमितो भिन्नमेकमन्यदप्यावरणं यत् स्वेच्छाकृतं विद्यते । एतदेव छलकपटादिरूपम् । अत्र जीवस्य सत्यस्वरूपस्यापह्नव इति स्पष्टम् । महर्षिदयानन्दस्य ग्रन्थेषु सत्ये यद् बलाधानम्, छलकपटादीनाञ्च यो निर्देशस्तत्रैतदेवावरणम् ज्ञेयम् । स्वेच्छाकृतस्यास्यावरणस्य द्विविधा प्रवृत्तिः । एकत्र तत्त्वस्य स्थाने तद्गतबाह्यरूपस्यावलम्बनम् । अत्र तत्त्वाभावे तत्त्वाभासस्यावरणम् ।अपरत्र एतद्बाह्यरूपावलम्बनेन सह अन्यस्यापि तत्त्वभिन्नस्य पदार्थस्यावलम्बनम् । अस्मिंश्च तत्त्वभिन्ने पदार्थे उपर्युक्तस्य बाह्यरूपस्यावरणम् । उदाहरणेनैतत्स्पष्टं भविष्यति । प्रथमं प्रथमाया उदाहरणं प्रस्तूयते यथा ज्ञानवृद्धिरस्माकमभीप्सिता । अस्याः स्थाने वागाडम्बरस्य विस्तारः । यथा—

"शोधस्य विविधा मार्गाः, ग्रन्था अपि नवा नवाः ।
अद्य ज्ञानस्य विस्फोटः, कथं त्वं तत्त्व ! खिद्यसे ।।"—तत्त्वशतकम् ।

सम्प्रति द्वितीयाया उदारणं प्रस्तूयते—

"तत्त्वविदां धृतं रूपम्, चित्तं वित्ते तु सर्वदा ।
भ्रान्तिरत्रास्ति लोकस्य, तत्त्वमेतत्तु नोच्यते ।।" —तत्त्वशतकम्

अनयोर्द्वयोरावरणयोरज्ञानरूपस्यावरणस्य परित्यागात् प्राक् कपटादिरूपस्यावरणस्य परित्याग आवश्यकः ।

प्रतिपुरुषं यस्यावरणस्य स्थितिस्तस्य समाजेऽपि स्थितिः । समाजगतेनानेनावरणेनैकत्र अज्ञानस्य स्थितिरपरत्र ज्ञानाभासस्यावलम्बनम्, अन्यत्र चार्थप्रवृत्तौ तथाकथिताया आध्यात्मिकताया आवरणम् । समाजगते यस्मिन् वर्गेऽस्यावरणस्य स्थितिः स महर्षिदयानन्दस्य भाषायां तथाकथितः पुरोहितवर्गः । अस्य वर्गस्य कार्यमस्ति—वेदविहितसिद्धान्तानां परित्यागः, तेषां स्वानुकूला व्याख्या । कर्मसिद्धान्तस्य विपरीता व्याख्या, गुणकर्ममूलकस्य वर्णव्यवस्थासिद्धान्तस्य परित्यागः अस्पृश्यतादयश्च केचन सिद्धान्ता अत्रोदाहरणानि । अस्य वर्गस्यानेन कार्येण शोषितवर्गस्य शोषणम् । अनेन समाजे वर्गद्वयम्—शोषकः शोषितश्च । शोषणस्य समाप्तये समाजे आध्यात्मिकताया धर्मस्य च स्थापनमावश्यकम् । एष एव वेदविहितो मार्गः ।

एतन्मार्गावलम्बने शोषकवर्गेण सह संघर्षोऽपि स्वाभाविकः । एष संघर्षो न हि हिंसात्मकोऽपि तु वैचारिकः । अनेन या क्रान्तिः सापि न हि रक्तरञ्जिता अपि तु वैचारिकी । अनया क्रान्त्या सद्धर्मस्य स्थापनम् । तेन च समाजोद्धारः ।

महर्षि दयानन्ददर्शनानुसारं न हि आत्मोद्धारमात्रेण कार्यनिर्वाहोऽपि तु समाजोद्धारोऽपि तत्रावश्यकः । समाजोद्धाराभावे आत्मोद्धारोऽपूर्णः । किञ्च आत्मोद्धारे यथा यमनियमादीनि सहायभूतानि तथैव समुचिता सामाजिकी व्यवस्थापि तत्र सहायभूतेति समाजोद्धारोऽनुपेक्षणीयः ।

महर्षिदयानन्दानुसारं कर्मणो ज्ञानेन सह सम्बन्धः, अस्मिन् सम्बन्धे एव च कर्मणः सार्थकता । ज्ञानेन सह सम्बन्धाभावे कर्म अकिञ्चित्करम् ।

□□

Superimposition or 'Adhyasa'

☐ Vidyanand Saraswati

According to Vedanta or Advaitavada, the universe is a modification of Brahma. The efficient and material causes are ordinarily different from each other. Prakriti is said to be the material cause of all material objects. But, according to Vedanta, Prakriti being the power of Brahma, creation is the manifestation of the subtle powers of 'chit' (चित्) and 'achit' in the form of gross effects. Brahma is the ultimate truth underlying the world of manifoldness. The element of change and diversity is false.

The Vedantists have drawn distinction between transformation by way of विकार or परिणाम and evolution by way of 'Vivarta' (विवर्त्त). Transformation implies mutation in the substance of the cause for the evolution of the effect. When a thing becomes materially different from what it previously actually was it is called परिणाम or transformation.[1] Here, the effect is a real production from the cause and quite as real as the cause.[2] For instance, when milk is changed into curd or clay undergoes change by way of विकार and becomes a pot, it is परिणाम or transformation. In the case of transformation, therefore, the cause and effect both belong to the same order of reality. When, however, a thing only appears different from what it actually is, it is विवर्त्त or illusion.[3] 'Vivarta' literally means a turning round, a perversion. It is that kind of causality where the cause produces the effect without undergoing any real change. Here, the effect belongs to a lower order and is,

1. तात्त्विकोऽन्यथाभावः परिणामः ।
2. परिणामो नाम समसत्ताककार्यापत्तिः ।
3. अतात्त्विकोऽन्यथाभावो विवर्त्तः ।

hence, mere appearance.[1] B. G. Tilak, in his Gita Rahasya, says that विवर्त्त or illusion works first, then परिणाम or modification. But, in the actual world we find instances where 'Vivarta' follows 'Parinama' but never vice-versa. It is possible that milk may first turn into curd by the process of 'Parinama' and then appear as cotton by 'Vivarta'. But it is impossible that milk may first appear as cotton and then that cotton, so illusively formed may, by the process of Parinama, be now convertible into curd. 'Vivartavada' is the doctrine of apparant (as opposed to real) modification of God into the phenomenal world.

'Parinamavad' or the theory of the absolute changing into the world is open to some very serious objections. If the whole of God is transformed and the world is His exhaustive modification, then there is no God left beyond the universe and we lapse into lower panthoism. This also coctradicts the Shruti which says that the whole of this universe occupies only one fourth of His being, while three fourth of Him lies beyond it.[2] If it is only a part, then means that God is capable of being partitioned. Besides, we cannot keep one part of God above and another below. As Dr. Radhakrishnan put it, this would be like having half the fowl for cooking and leaving the other half for laying eggs. Vachaspati Mishra asks—"Does it change as a whole or in part ? If it changes as a whole, it will mean destruction of its old nature. If it changes in part, is the part different from the whole or non-different ? If it be different, how can the transformation be said to be of the original reality ? If it be non-different, how can the transformation be not of the whole ?"[3]

Anticipating that this method of explaning the phenomenal world would create difficulties, Shankaracharya took shelter under

1. विवर्त्तो नाम विषमसत्ताककार्यापत्तिः।
2. पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि। Yaj.31, 3.
3. तत्र सर्वात्मना वा परिणमते एकदेशे वा ? सर्वात्मना परिणामे कथं न तत्त्वव्याहतिः ? एकदेशपरिणामे वा स एकदेशस्ततो भिन्नो वा अभिन्नो वा ? भिन्नश्चेत् कथं तस्य परिणामः ? अभेदे वा कथं न सर्वात्मना परिणामः ?

(विवर्त्तवाद) or the illusion theory. He did not believe in 'Parinamavada' or the theory of actual modification of Brahma into the world, as held by certain other schools of Vedanta. According to Shankara himself, "if this world were the actual modification of Brahma, as a jar of clay, Brahma will become 'Vikari' (विकारी) or amenable to change, which will be in clear Violation of His essential nature.[5]" He, therefore, introduced (विवर्त्तवाद) or the doctrine of apparant (as opposed to real) modification of Brahma into phenomenal world. To elucidate the conception of 'Vivarta' the example usually given is that of the rope which appears as a snake to the belated traveller. This illustration is to be found in Gaudapada also. Without undergoing the least change[6] and remaining a rope all the time, it produces the appearance of a snake in the mind of the passer-by. The rope maintaings its character intact and yet appears as something quite different. Judged from the standpoint of common experience, the rope is not the cause of the snake, since there is no relation between the two. And yet the presence of the rope is essential for the snake illusion to arise. The rope is, therefore, the substratum (अधिष्ठान) in which the snake illusion arises. When we examine the place with the help of a lamp, the snake disappears and only the rope remains. The rope will continue to be a rope to the same individual at different times and to different persons at the same time. It is, therefore, more real than the snake, which presents itself just to one individual, and that too for a brief moment. The rope is the reality

---

5. ननु मृदादिदृष्टान्तप्रणयनात् परिणामवद् ब्रह्मशास्त्रस्याभिमतमिति गम्यते। परिणामिनो हि मृदादयोऽर्था लोके साधिगता इति। नेत्युच्यते, ब्रह्मण: कूटस्थस्य त्वाभ्युपगमात्। न हि कूटस्थस्य ब्रह्मण:.......... अनेकधर्माश्रयत्वं संभवति, कूटस्थं च नित्यं ब्रह्म सर्वविक्रियाप्रतिषेधादित्यवोचाम। Brahma-sutra, shankara, 2.1.14.

   It is, surprising how, elsewhere (2.1.26), Shankara could say—"चेतनमेकं ब्रह्म स्वयं परिणाममानं जगत: कारणमिति स्थितम्। (and in 2.1.24) एकस्यापि ब्रह्मण: विचित्र: परिणाम उपपद्यते ॥

6. न त्वहिबुद्धिकाले तमपगमकाले च वस्तुन: कश्चित् विशेष: स्यात्।

behind the snake which is mere apperance. The snake which was perceived by an individual for a brief period and disappeared when light came, is unreal. In like manner, the universe, with its sun, moon, stars and the earth with its rivers, mountains, trees, animals or insects has on reality whatsoever. It appears, while lt is not. The appearance of Brahma as the really non-existent world is a delusion, and the delusion is due to superimposition which is again due to ignorance, even as the appearance of the rope as snake is due to darkness. When light comes, the snake disappears. Similarly, we see Brahma as the world which is really non-existent. When knowledge comes and we see the reality, the appearance of the world flees away and only Brahma remains. That, which is proved to be unreal by later experience, is false. The world superimposed on Brahma is, therfore, unreal, while its substratum God is the only reality. This is the idea behind the oft quoted statement ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, i.e , Brahma is the reality, while the world, being only a phenomenal appearance, is false The world is erroneously superimposed on the changeless and non-dual Brahma. Whatever appears is delusion which is caused by superimposition or 'adhyasa'.

Superimposition is the apparant presentation to—consciousness, by way of rememberance, of something previously observed, in some other thing, which at the moment is not there.[7] It is the fictitious assumption of attributes contrary to the nature of the thing on which something else is superimposed. In other words, it is the appearance of a thing which it is not. It is knowledge which is subsequently stultified by the knowledge of things as they are. The snake is false, because it is contradicted by subsequent knowledge that the object lying there was only a rope, In popular terminology, it is illusionary knowledge.

If there is no reality except Brahma and all else is illusion, there must be some explanation for the illusion itself. How does illusion arise ? And who is the subject of illusion ? False knowledge or illusion comprises four factors—it is caused (1) in some

7. स्मृतिरूप: परत्र पूर्वदृष्टावभासः।

one (2) on account of superimposition of something (3) of another thing (4) in peculiar conditions; as, for instance, (1) Devadatta mistakes, (2) a rope, (3) for a snake, (4) in twilight. If we assume that nothing but Barhma exists, the subject of illusion would be none other than Brahma himself. Obviously, therefore, Brahma himself would be mistaking Brahma or rope for Brahma or snake on account of Brahma or ignorance. In other words, it will be Brahma, superimposing himself on Brahma, i. e., mistaking himself for the world which does not really exist. It will be simply riduculous to assume that Brahma fails to recognise or identify himself and know his true nature. That will be depriving him of his omniscience and making him the seer of all that never really was, nor is, nor ever shall be. Illusion is the result of ignorance. It can neither be caused in Brahma who is all knowledge—सर्वज्ञ, nor in Prakriti which is all ignorance—अज्ञ. It can only be caused in the soul which, being अल्पज्ञ, can become a victim of ignorance. If as the Vedantists say, the soul is really Brahma himself. He will cease to be self luminous, and this the scriptures do not accept.

To say that a thing does not exist because it does not persist, is rather strange. The argument involes a confusion between opposites and distincts. Distinction is not denial. Where two cognitions are mutually contradictory, both cannot be contradictory. If the non-existence of thing is cognised at the same time and at the same place when and where its existence is cognised, we have a mutual contradiction of too cognitions. But when a thing is perceived in connection with some place a time and its non-existence is perceived in connection with some other place and time, there arises no contradiction[8]. In the example of mistaking a rope for a snake, the cognition of non-existence arises in connection with the given place and time. So, there is contradiction. But if an object perceived now does not exist at another place and time, we cannot rush to the conclusion that it is unreal.

8. देशान्तरकालान्तरसम्बन्धितयानुभूतस्यान्यदेशकालयोरभावाप्रतिपत्तौ न विरोधः।
R. B 1.1.1.

Non-existence is not a category by itself; it can be conceived in relation to a real object. We speak of non-existence when real object is predicated of another real object. The thing superimposed and the thing on which it is superimposed—both are real and have some resemblance in form An unreal thing can never be an object of experience. The world, if it were unreal, could never have been the object of our experience. Because a particular thing is experinced, it does, for that very reason, become real. The analogy in the rope as snake analogy is that we regard the rope as existing and the snake as non-existing. The illusory snake does not spring out of nothing, nor does it passes into nothing when we are disillusioned. True that it do not exist in the rope before us, but it does exist as a reality elsewhere, while its impression persists in our mind. If that be so, the snake cannot be called as non-existing or unreal. Had there been no real rope, no real snake and no similarities between the two, nobody would ever have had an illusion of a rope appearing as snake. If there is no such thing as snake,why is the rope invariably mistaken for a snake, and never for a cow or a horse. Non-existence does not distinguish between a snake and a cow or a horse. This alone is sufficient to substantiate the existence of the snake in the world and its impression in the mind.

In fact, delusion can only be discriminated against the back ground of reality. No truly negative judgement is simply negative. Whenever and wherever we declare something as unreal, we do so with reference to something real. In all cases of superimposition, there is an antecedent real knowledge of the object superimposed, as of the snake in the popular-example. As such, to superimpose the world on God, a real knowledge of the world is essential. and that will make the world a reality.

The validity of perception cannot be denied. Each evidence of knowledge has its own sphere wherien it is absolutely authoritative. Direct perecption, which forms the basis of all other means of knowledge, is the best of all proofs. There are three means of acquiring knowledge—namely, sense experience, reasoning and

intuitive apprehension. Perception has its supreme validity in knowledge through the senses. Gaudapada's theory that all sense data are erroneous—and the reason of their being erroneous is that they are sense-data[9]—is highly misleading. As a matter of fact, what we see or hear or feel remains as secure as ever and as real as ever. There was no sense in our having senses, if the world and its objects did not really exist Eyes are not meant to deceive us at every step by giving us false knowledge, like presenting the rope in the form of non-existing snake. It is we who, through our own faults, sometimes misunderstand the sense data and deduce wrong inferences. It is through the senses that we know the external world. The data supplied by the senses are synstematised by reason which, by the process of analysis and systhesis. gives us the conceptual picture of the world outside us. It depends for its accuracy on the correctness of the perceptions as well as on the growth and experience of human mind. It is true that the range of our senses is limited and our knowledge obtained through them may be imperfect. Yet, sense data play a very significant role in our everyday life. They can therefore, be neither discarded, nor eliminated, nor even under–rated. We cannot deny the evidence of sense perciptions, though, under certain limitations senses can and do mistake. But there are set rules to detect such mistakes and make a discount for their weaknesses.

As a matter of fact, a perception is generally true. It is the inferance drawn out of it, that is wrong. When one sees a rope in twilight, it appears to him like snake. But, in this obser-vation, half, in fact, is perception and half inference. The perception gave the idea of form. But the real object is not form alone. From form point of view, it would have been a rope. It would have been snake too. The formal perception was not erroneous. The error was introduced in the hasty inference. To infer on the basis of one perception only is a mistake. But this

9. जाग्रद् दृश्यानां भावानां वैतथ्यं दृश्यमानत्वात् ।
Shankarabhashya on Gaudapadiya Karika.

does not speak against the perception itself. It rather supports the validity of perception all the more It demands a thorough perception and on the basis of this a non-hasty inference

Again, non-existence should not be determined by exceptions. We always perceive a rope as a rope, sand as sand and the mother of pearls,as mother of pearls. It is very seldom that we mistake, and that too for a brief moment, a rope for a snake, sand for water or the mother of pearls for silver. These are only exceptions which should not lead to generalisation. We all know that men have two eyes. But we do sometimes come across men having lost one eye or being totally blind. To declare the world as false on the basis of rope vs snake analogy would be like declaring all men blind or one-eyed on the basis of our having met one such person.

The existence of a knower implies the existence of the things to be known. If there is nothing to be known, the knower itself-be it the soul or Brahman, becomes superfluous. If all forms be superimpositions and, consequently, false, then the eyes which perceive them and the mind to which these perceptions are reported, all become equally false. And if the knower happens to be Brahma (because in non-dualism nothing else exists), he also loses his identity. When all i. e. सर्व is false, his omnisience i. e. सर्वज्ञत्व is also false.

The Almighty never mocked us by presenting to us things which did not really exist. The test between a real thing and a mere appearance is that while the former can occasion a series of effects, the latter cannot. The sand which appers as water in mirage, cannot be converted into ice or be used to quench one's thirst like real water. Argued thus, whatever is cognised canot be non-existent in the present, and in its causal form, it will always persist and can never be unreal or non-existent. Just as 'this' indicates the presence of a thing in the present, the perceptual experience of 'that is this' demonstrates the presence of object in the past, as also in the present. In fact, the existence of the means

or organs of knowledge presumes the existence of the objects of knowledge. Therefore, what we experience cannot all be non-existent or mere appearance caused by superimposition. What must we think of the houses, the rivers, the mountains, the trees, nay, even our own bodies ? Are all these mere illusions of the fancy ? It that be so life will become impossible.

Again, if the phenomenal world be a case of superimposition like the snake in the rope, the question arises—which is superimposed on which ? As we mistake a rope for a snake, we may also sometime mistake a snake for a rope, as Tulsidas is said to have done. Is the world superimposed on Brahma or is it the reverse ? In the latter case, the world which is the substratum like the rope in the rope Vs snake analogy, the word will prove to be a reality. If it is the other way—the world on God—it is not possible; for, Brahma, being not limited by time, space and causation, cannot be an object of perception.

But reality and unreality may be relative. Everywhere the cause is more real than the effect. In the case of an earthen jar, the particular form of the jug, its colour and other properties akin to the se are mutable in their character; while in comparison with these, its constitutive cause, viz, clay is of a more permanent and abiding nature; for, although the jar may be broken and thus cease to exist in name and form, its material cause, clay, remains there all the time. From this standpoint, therefore, the jar may be said to be unreal, while the stable substratum furnished by clay is real. Greater permanence being, from the relative standpoint, the test of greater reality, you may not predicate reality, in the strict sense of the word, to anything whose existence is limited by conditions of time and space. But it must not be supposed that this ascertion involves a denial of the reality of the jar. Certainly more than mere clay. Had it been otherwise, there would have been no possibility for discriminating between the various objects of which clay is the material cause.

The world is said to be a perpetual processions of events, where nothing abides. The universe is not static. It is an endless

process of becoming. The seers or the authors of the upanishads regard human body as real in itself, but unreal when compared with the soul which is imperishable. Similarly, they regard the empirical world as real in itself, but unreal when compared with the Supreme Being. In other words, the world's reality is of an inferior order to that of Brahma. The phenomenal world we experience, though real in itself, may thus be designated as असत् or unreal in comparison with the reality of Brahma 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' should have been uttered in the same spirit.

Vedic Philosophy

By Dr. J.D. Vedalankar, Head of the Department of Philosophy
G. K. V. HARDWAR

Maharshi Dayanand while establishing that Vedas are the fountain head of, knowledge concerning God, Soul and Matter, also propounded that they contain material regarding Mathematics, Physical Sciences, Sociology, Ethics, Medicine etc., etc.

It may be that the modern vedic scholars have not so far, on the basis of his findings, been able to do any further research work, yet it is abundantly clear that thirty years before the advent of the first aeroplane Swami Dayanand, on the basis of vedic hymns had narrated in his book "Rigvedadi Bhashya Bhumika", that vedas contained reference to the manufacture of such planes (Vayu Yan). At that time no European Scientist had even dreamt of it. Yogi Arvind goes to the extent of saying that vedas contain such scientific truths which are yet unknown to the modern scientists.

Swami Dayanand's deep study of vedic literature has strengthened the belief that vedas contain the earliest revelations of Rishis (seers) various kinds of hymn knowledge but in a very brief form. These findings have, therefore, helped us to wipe out the misconception of some mediaeval scholars, that Upanishdas are a reaction against the Vedic thoughts. This belief has been falsified rather on the contrary it has been found that vedas are in fact the real source of Upanishdas.

Swami Dayanand has propounded that philosophy of vedas is realistic and is named as (त्रैतवाद) the doctrine of Trinity. According to it God, Soul and Matter are three eternal identities

6. That Lord is called by the learned by various names viz. fire, air, moon, yama, Matarishwan etc.

While describing God vedas say that He is formless (without any body) is purest of the pure, is without a nervous system, is faultless, is self born.

Some Indian scholars under the influence of western thought and philosophy deny that vedas deal with God. They believe that the concept of God came later during the development of vedantic philosophy. However, some scholars do believe that a reference to God exists in the last portion of Rigveda.

But I consider this conception is utterly untenable because vedas, in main, deal with the attainment of God. All the vedas establish the existence of Brahman openly or tacitly. Kathopanishada states that all the vedas sing His (God's) songs. He is called -OM- Not only that even the vedantic philosophy accepts that vedas sing the songs of God. In fact God mentioned in vedas is not such God from whom any other body is powerful. He is all powerful and the deity of the deities. He is omnipotent, omnipresent. With all these facts it is hardly conceivable how the western scholars say that montheism came from Drawida people. This is not supported by any argument. According to Dayananda also in vedas neither there is Polytheism nor Kathenotheism. According to the interpretation of Dayanand the word "Devta" mentioned in these scriptures, means the one who always gives and does not take, who sheds light or knowledge or who obeys his parents. This interpretation he bases on the authority of Nirukta, According to him the word Devta does not connote God. Thus it is clear that in veda there is only one God (Brahma) who is to be invoked or adored and none else.

Position of the universe during Dissolution (प्रलयावस्था)

Before this universe came inoto being what was its position and in what shape it existed ? Who brought it into being ? All these questions have been ably answered in the vedas. In the

"Nasadiya Sukta" this subject has been dealt with in a beautiful philosophical manner. Even western scholar of the prominence of Mr. Max Muller, who accepts the theory that vedas have come down to us through great Rishis, accepts this "Nasadiya Sukta" was revealed to Rishis by God. Hereunder we deal with some of the hymns contained therein:—

(1) During प्रलयावस्था of universe, there was neither (सत्) Being nor (असत्) non-being. The vacant space (अन्तरिक्ष) was not full of atoms. What was prevailing there ? On whose support it all then existed ? Was there any exceptionally powerful force ?

(2) At that time there was neither life nor death. There was neither day nor night. God alone was there with his own natural power, along with Matter (प्रकृति) in its latent state.

(3) At that time the latent Matter was all covered with darkness. It was like water all in one in an unknown state. By Lord's will power the latent Matter began to become patent.

(4) The rays of these three were running slantingly. All above and below, there was something indiscribable and wonderful, they were containing potent force. On the other side Soul had the capacity to accept and was in full force.

(5) In reality who knows, who can tell wherefrom this life came and how this universe with differnt varieties came into being. The sun and other illuminating objects came later. Now how can one know in what manner the universe was created.

(6) He, who has created this universe with all its diversities, is without any doubt, holding it. If he were not doing there would be all chaos. He is all prevailing and is controlling. O ! Friend Know Him, if you will not know Him it would be greatest loss.

Under the influence of Acharya Shanker some of the modern scholars try to find out a link of Advait-vad from this. But the matter for consideration here is that in this hymn both (सत् व असत्) Truth and non Truth are denied. If this hymn had contained

that before the existence of the world there was (सत्) Truth, then Acharya Shanker's doctrine could find support. But since according to Shankaracharya the Truth (सत्) did exist. Therefore, his theory does not stand to reason. Accordingly it is in the fitness of things to believe that here the word (सत्) Truth means that this कार्यरूप world was not there and the word Asat (असत्) means there was (अभाव) vacuum. Meaning thereby that there was not complete vacuum (अभाव) but the material cause of this universe was there in a latent state. God with his will-power to create gave commotion and the universe came into being.

Here it is clear that Acharya Sayana was influenced by Acharya Shanker's view. But in all probability Sayana did not fully understand the meaning of the word Sat (सत्) as used by Acharya Shanker. He has differently interpreted this word from Acharya Shanker.

In vedas and Upanishadas the fact of existence of this universe has been beautifully described in a philosophical way. Matter (प्रकृति) has been described as a beautiful ever moving tree. God and soul two friends are sitting on that tree. One (God) is sitting there without any attachment as an onlooker. Whereas the Soul is tasting it's friuits and in consequence thereof undergoing pleasure and pain.

Both vedas and Upanishadas are in agreement to this fact that God is the controller of the universe. Besides Nasdiya Sukt, in the purush Sukt of Yajurveda and Skambh Sukt of Atharvaveda certain details of the creation of this world are mentioned. According to Purush Sukt the universe was created out of twenty one elements. After that Sun and Moon were created and thereafter human and other creatures are stated to have been created. Similarly in Atharvaveda there is a description of the creation in the form of question and answers. Hence we have seen that Swami Dayanand has founded bed rock of realism/rationalism on the very authority of vedas and Upanishadas. Acharya Shanker

has tried to interpret Upanishadas to prove his theory of 'Monism (अद्वैतवाद). But the philosophic interpretation of Upanishadas can be the same as that of vedas because they (Upanishadas) are a commentary of vedas. We have already discussed this that Upanishadas believe that vedas are the fountain source of knowledge and self evident. Besides Swami Dayanand, modern scholar of the eminence of Dr. Radha Krishnan accepts theory of the pre-existence of Matter (प्रकृति). From the above analysis it has become abundantly clear that vedas accept the concept of realism.

Swami Dayanand has given a new revolutionary thought of realism from the vedas contrary to the prevailing belief of mediaeval ages who had reduced the vedas as mere books containing religious practices. Now vedas have come to be known as the source of complete knowledge which is needed for humanity.

महर्षि दयानन्द के नूतन दार्शनिक उत्प्रेक्षण

श्री वेदपाल एम० ए० रिसर्च फैलो, दयानन्द चेयर पञ्जाब विश्वविद्यालय

महर्षि दयानन्द एक विलक्षण प्रतिभासम्पन्न महापुरुष थे। उनकी सूक्ष्मेक्षिका ने सहस्रों वर्षों से विलुप्त वैदिक मन्तव्यों का पुनरीक्षण किया। यद्यपि उनके प्रयासों का लक्ष्य प्रभु की पवित्र वेदवाणी के ज्ञानालोक को मानव मात्र तक पहुँचाकर मानव समाज को त्रिविध ताप से मुक्त करना था, इसलिये उनका सारा प्रयास वेदों के सत्यार्थ-प्रकाशन में चरितार्थ हुआ। पुनरपि उनके द्वारा विरचित ग्रन्थों में यत्रतत्र प्रसङ्गवश अनेक दार्शनिक विवेचनाएं समुद्भूत हुई हैं, जो उनके दार्शनिक पाण्डित्य की परिचायिका हैं।

महर्षि दयानन्द का चिन्तन मध्यकालीन आचार्यों के चिन्तन परिबन्धनों से सर्वथा निर्मुक्त था, अतः उनका चिन्तन एक नये दृष्टिकोण को लिये हुये है। यद्यपि उनके ये नूतन विचार वैदिक-दर्शनसूत्रों में मूलरूपेण निहित थे परन्तु शताब्दियों तक चलनेवाले चिन्तन-प्रवाह में ये मन्तव्य कभी भी उभर कर दृष्टिपथ में अवतीर्ण नहीं हुये। विज्ञ पाठकों के विचारार्थ महर्षि दयानन्द के कुछ नवीन दार्शनिक मन्तव्यों की प्रस्तुति सविश्लेषण कर रहा हूँ।

(1) प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा ईश्वर सिद्धि—

वेदान्त दर्शन की प्रक्रिया में ईश्वर की सिद्धि के लिये केवल शब्द प्रमाण को सबसे बलवान् प्रमाण स्वीकार किया गया है। इसलिये वे श्रुतिप्रमाणक के रूप में प्रसिद्ध हैं। नैयायिक ईश्वर की सिद्धि अनुमान प्रमाण से करते हैं। परन्तु महर्षि दयानन्द समस्त पूर्वाचार्यों की धारणाओं से उन्मुक्त होकर अत्यन्त दृढ़ता के साथ ईश्वर की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा भी करते हैं। यथा—

प्रश्न—आप ईश्वर ईश्वर कहते हो परन्तु उसकी सिद्धि किस प्रकार करते हो।

उत्तर—सब प्रत्यक्षादि प्रमाणों से।

प्रश्न—ईश्वर में प्रत्यक्षादि प्रमाण कभी नहीं घट सकते।

उत्तर—इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारिव्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् (न्याय. १-१-४)

यह गोतम महर्षि कृत न्यायदर्शन का सूत्र है। जो श्रोत्र त्वचा, चक्षु, जिह्वा, घ्राण और मन का शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सुखदुःख, सत्यासत्य विषयों के सम्बन्ध होने से ज्ञान उत्पन्न होता है, उसको प्रत्यक्ष कहते हैं, परन्तु वह निर्भ्रम हो। अब विचार करना चाहिये कि इन्द्रियों और मन से गुणों का प्रत्यक्ष होता है गुणी का नहीं। जैसे चारों त्वचादि इन्द्रियों से स्पर्श, रूप, रस, और गन्ध का ज्ञान होने से गुणी जो पृथिवी उसका आत्मायुक्त मन से प्रत्यक्ष किया जाता है। वैसे इस प्रत्यक्ष सृष्टि में रचना विशेष आदि ज्ञानादि गुणों के प्रत्यक्ष होने से परमेश्वर का भी प्रत्यक्ष है। —सत्यार्थप्रकाश सप्तम सम्मुल्लास

सत्यार्थप्रकाश के प्रस्तुत सन्दर्भ से स्पष्टतया महर्षि दयानन्द की सर्वथा नवीन ऊहा परिलक्षित होती है। सामान्यजन आँखों से दृश्यमान वस्तु के ज्ञान को ही प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय जानते हैं। दार्शनिक विद्वान् भी प्रत्यक्ष प्रमाण के क्षेत्र को केवल भौतिक वस्तुओं के ज्ञान तक सीमित रखते हैं। परन्तु महर्षि दयानन्द की तत्वदर्शिनी सूक्ष्म प्रज्ञा ने दार्शनिक जगत् के सम्मुख एक नूतन दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया और कहा—जब गुणों के प्रत्यक्ष से गुणी पदार्थ का प्रत्यक्ष सर्वतन्त्र सिद्ध है, तो सृष्टिरचनादि गुणों के प्रत्यक्ष से रचयिता गुणी के प्रत्यक्ष होने में क्या विप्रतिपत्ति है। उपनिषद् की यह उक्ति "दृश्यते त्वग्रया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः" स्वामी दयानन्द के इस मन्तव्य का पोषण कर रही है।

पाठकों को स्मरण रखना चाहिये कि नैयायिक 'बुद्धि' को कोई पृथक् करण नहीं मानते। न्याय प्रक्रिया में अन्तः करण चतुष्टय का अन्तर्भाव मन में ही कर लिया जाता है। इसलिये मन द्वारा सृष्टि रचना, सञ्चालन आदि अनेक गुणों का प्रत्यक्ष होने से गुणी परमेश्वर के मानस प्रत्यक्ष में कोई सन्देह नहीं होना चाहिये। यथार्थ में प्रत्यक्ष प्रमाण की अर्थकारिता करणों पर आधारित है। निर्दुष्ट करण ही यथार्थ प्रत्यक्ष ज्ञान के हेतु बन सकते हैं। अतः महर्षि दयानन्द के तपसा शुद्ध मन ने ईश्वर की सतत प्रत्यक्षानुभूति कर ली, तो इसमें आश्चर्य कुछ भी नहीं। और जिनके मन में तामस भरा है उसको दुष्ट-नेत्र तुल्य पुरुष के समान द्विचन्द्र प्रत्यक्षवत् भ्रान्ति है, तो इसमें प्रत्यक्षप्रमाण का क्या दोष है? अतः ईश्वर की प्रत्यक्षण प्रमाण द्वारा अवगमकता श्रुति, शास्त्र एवं युक्ति सिद्ध है, जिसका पुनरुत्प्रेक्षण दयानन्द की आर्ष प्रज्ञा ने कर लिया।

2. अद्वैत वाक्यार्थ योजना—

"अहं ब्रह्मास्मि" "अयमात्मा ब्रह्म" आदि औपनिषद् वाक्य ही आचार्य शङ्कर तथा अन्य अद्वैतवादिदार्शनिकों के मुख्याधार स्तम्भ हैं। यद्यपि श्रीभाष्य-कार रामानुजादि आचार्य ने भी इन श्रुति वाक्यों की द्वैतपरक व्याख्या अपने भाष्य में की है। परन्तु जितनी बुद्धिगम्य युक्तियुक्त एवं शास्त्रसम्मत वाक्यार्थ-

योजना महर्षि दयानन्द ने इन वाक्यों की प्रस्तुत की, वह उनसे पूर्वकालीन आचार्यों के भाष्यों में सर्वथा अनुपलब्ध है। महर्षि दयानन्द ने वाक्यार्थ प्रबोधक शास्त्रों के आधार पर "अहं ब्रह्मास्मि" की व्याख्या तात्स्थ्योपाधि से "अहं ब्रह्मस्थोऽस्मि" करके वास्तव में अपनी अलौकिक प्रतिभा का प्रदर्शन किया है। उन्होंने कहा—जैसे "मञ्चाः क्रोशन्ति" में तात्स्थ्योपधि से मञ्चस्थाः पुरुषाः क्रोशन्ति यह अर्थ सर्वतन्त्र सम्मत है इसी प्रकार जीव और ब्रह्म को तत्सहचरितोपाधि बुद्धिसम्मत एवं शास्त्रानुसारी है। इसी प्रकार "तत्त्वमसि" की व्याख्या भी "तदात्मकस्तदन्तर्यामी त्वमसि" करके द्वैतवाद की बुद्धिगम्य पुष्टि प्रस्तुत की है।

3. विशेषण का लक्षण—

"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" इस छान्दोग्य वचन से अद्वैतवादी आचार्य "व्यावर्तकं विशेषणं भवति" इस विशेषण के लक्षण के आधार पर अद्वैत की सिद्धि करते हैं। परन्तु महर्षि दयानन्द अपनी अलौकिक शेमुषी से विशेषण का समुचित लक्षण बताते हुये कहते हैं—जो कहो कि "व्यावर्तकं विशेषणं भवति" तो इतना भी मानो कि "प्रवर्तकं प्रकाशकमपि भवति" विशेषण प्रवर्तक और प्रकाशक भी होता है। इस प्रकार स्वामी दयानन्द ने विशेषण के लक्षण में नूतन दार्शनिकता का समावेश करके अपनी असामान्य प्रज्ञा का सम्यक् प्रदर्शन किया है।

उपर्युक्त सन्दर्भ-विश्लेषणों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि महर्षि दयानन्द की बुद्धि मध्यकालीन आचार्यों की चिन्तन सीमाओं से उन्मुक्त होकर नूतन उत्प्रेक्षण करने में समर्थ थी।

आर्यसमाज के तत्त्वावधान में प्रणीत दार्शनिक साहित्य

☐ संकलन : डॉ० भवानीलाल भारतीय

(१) षड्दर्शन : भाष्य टीकादि

(अ) सांख्य सूत्र			
१. सांख्य दर्शन (मूल उर्दू भाष्य)	दर्शनानन्द सरस्वती	वैदिक धर्म प्रचार मण्डल	१९०३ ई.
२. ,,	,,	गुरुकुल पोठोहार	
३. ,,	,,	वैदिक पुस्तकालय, मुरादाबाद	
४. ,,	,,	सत्यप्रकाशन मथुरा	२०२५ वि.
५. सांख्यार्य्य भाष्य	आर्यमुनि		
६. ,,	,,	हरयाणा साहित्य संस्थान	
७. सांख्य दर्शन	राजाराम	आर्ष ग्रन्थावली, लाहौर	
८. ,,	तुलसीराम स्वामी	स्वामी प्रेस. मेरठ	१९०९ ई.
९. ,,	गोकुलचन्द्र दीक्षित	आर्य पुस्तक भवन. आगरा	१९९४ वि.
१०. सांख्य सुधा	गोपाल	प्राच्य साहित्य सेवा मंडल, दिल्ली	१९९५ वि.
११. सांख्य दर्शनम् संस्कृत भाष्य	ब्रह्ममुनि परिव्राजक	ब्रह्ममुनि ग्रन्थमाला-१२	२०१२ वि.
१२. ,, हिन्दी भाष्य	,,	,, ,, -५९	
		आर्य साहित्य मण्डल. अजमेर	
१३. सांख्य दर्शन विद्योदय भाष्य	उदयवीर शास्त्री	विरजानन्द वैदिक संस्थान गाजियाबाद	
अन्य ग्रन्थ			
१. सांख्य तत्त्व समास (कपिल)	राजाराम	आर्षग्रन्थावली लाहौर	१९१२ ई.
सांख्य सूत्र (पञ्चशिखाचार्य)	,,	,,	
सांख्य कारिका (ईश्वरकृष्ण)	,,	,,	

२. सांख्य योगसार	श्रोमानन्द तीर्थ	सांख्य योग ग्रन्थमाला ,प्रकाशन समिति, अजमेर	२००७ वि.
३. सांख्य दर्शन का इतिहास	उदयवीर शास्त्री	विरजानन्द वैदिक शोध-संस्थान, गाजियाबाद	
४. सांख्य सिद्धान्त	,,	,,	

(आ) योग सूत्र

१. योगार्य्य भाष्य	आर्यमुनि		
२. योगदर्शन—	तुलसीराम स्वामी	स्वामी प्रेस, मेरठ	१९११ ई.
३. ,, व्यास भाष्य, भोजवृत्ति	रुद्रदत्त शर्मा		
४. ,, ,,	भीमसेन शर्मा	सद्धर्म प्रचारक प्रेस	१९६३ वि.
५. योगदर्शन	राजाराम	आर्ष ग्रन्थावली, लाहौर	
६. ,, व्यास भाष्य		आर्य पुस्तकालय, लाहौर	
७. पातञ्जल योगदर्शनम् भोजवृत्ति व व्यास भाष्य	विज्ञानाश्रम	आर्य साहित्य मंडल, अजमेर	१९८९ वि.
८. योग रहस्य	नारायण स्वामी	वैदिक साहित्य प्रकाशन	
९. योगामृत	गोपाल	सं. ७	
१०. योगोपनिषद्	वेदानन्द तीर्थ	भगवती प्रकाशन, दिल्ली	१९८१ ई. तृतीय सं., प्रथम सं. १९८८ वि., द्वितीय सं. १९९४ वि.
११. योगदर्शन भाषा भाष्य	गोकुलचन्द्र दीक्षित	आर्य पुस्तक भवन, आगरा	
१२. योगसार	ओमानन्द तीर्थ	पातञ्जल योग प्रकाशन हरिद्वार	
१३. पातञ्जल योग प्रदीप	,,	आर्य साहित्य मंडल, अजमेर	२००५ वि.
१४. ,,	,,	गीता प्रेस, गोरखपुर	
१५. आर्ष योग प्रदीपिका	ब्रह्ममुनि परिव्राजक	प्रिय ग्रन्थमाला, ३४	
१६. पातञ्जल योगदर्शनम्	ईश्वरीप्रसाद प्रेम	सत्य प्रकाशन, मथुरा	२०२४ वि.
१७. योगदर्शन विद्योदय भाष्य	उदयवीर शास्त्री	विरजानन्द वैदिक संस्थान, गाजियाबाद	
१८. सरलार्थ योगदर्शन	वेंकटेश्वर शास्त्री	आर्यसमाज याकूतपुरा, हैदराबाद	२०२३ वि.
The Yoga of Patanjali	Prof. Gopal.	Dayanand Sansthan, New Delhi.	

अन्य ग्रन्थ

१. ध्यान योग प्रकाश	लक्ष्मणानन्द सरस्वती		१९५८ वि. प्रथम संस्करण
२. ,,	,,	विद्यावती सेठ, लखनऊ	१९७० वि. द्वितीय ,,
३. ,,	,,	,, देहरादून	१९९४ वि. तृतीय ,,
४. ,,	,,	श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट	२०२० वि. चतुर्थ ,,
५. ,,	,,	,,	२०३२ वि. पञ्चम ,,
६. पातञ्जल योग और श्री अरविंद की योगपद्धति	ओमानन्द तीर्थ	पातञ्जल योग प्रकाशन हरिद्वार	१९४५ ई.
७. पातञ्जल योग साधना	सच्चिदानन्द स्वामी	पातञ्जल योग साधना संघ ह.	२०२६ वि.
८. योग जीवन	हुक्मचन्द	जन ज्ञान प्रकाशन, दिल्ली	
९. अष्टांग योग प्रकाश	भगवानदेव शर्मा	महर्षि दयानन्द योग आश्रम, टंकारा	

(इ) न्याय सूत्र

१. न्यायार्य भाष्य	आर्यमुनि		
२. न्यायदर्शन भाष्य	तुलसीराम स्वामी	स्वामी प्रेस, मेरठ	१९१० ई.
३. न्यायदर्शन	उर्दू भाष्य—दर्शनानन्द सरस्वती		
४. ,, उर्दू भाष्य के	अनुवादक—गोकुलचन्द्र दीक्षित	आर्य ग्रन्थ रत्नाकर, बरेली	१९८७ वि.
५. ,,		वैदिक पुस्तकालय, मुरादाबाद	
६. ,,			
७. ,, वात्स्यायन भाष्य	टी. राजाराम	आर्ष ग्रन्थावली, लाहौर	
८. ,, ,,	अ. १. ब्रह्ममुनि परिव्राजक	ब्रह्ममुनि ग्रन्थमाला, ६७	२०२५ वि.
९. ,, मूल सूत्र पाठ	भीमसेन शर्मा	प्रयाग	
१०. ,, विद्योदय भाष्य	उदयवीर शास्त्री	विरजानन्द वैदिक संस्थान, गाजियाबाद	

अन्य ग्रन्थ

१.	न्याय कुसुमाञ्जलि	मू. ले. उदयनाचार्य टी. जगदीशचन्द्र शास्त्री	आर्यसमाज, बम्बई		२०१५ वि.
२.	,,	टी. विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि			
३.	तर्कभाषा केशव मिश्र	टी. ,,			
४.	तार्किकोन्मूलिनी	बालचन्द्र शास्त्री	स्वामी प्रेस, मेरठ	आश्विन १९६४ वि.	तर्कसंग्रह का खण्डन
५.	न्यायप्रवेशिका	राजाराम	आर्ष ग्रन्थावली, लाहौर		
६.	आर्य तर्कसंग्रह	लक्ष्मण (आर्योपदेशक)			हिन्दी-उर्दू

(ई) वैशेषिक सूत्र

१.	वैशेषिकार्य्य भाष्य	आर्य मुनि		
२.	वैशेषिक दर्शन भाषा भाष्य	तुलसीराम स्वामी	स्वामी प्रेस, मेरठ	१९१२ ई.
३.	,, भाषानुवाद	सूर्यदत्त शर्मा	गुरुकुल विद्यालय, होशंगाबाद	१९१४ ई.
४.	,, मूल उर्दू अनुवाद	दर्शनानन्द सरस्वती		
५.	,, उर्दू से अनूदित	,,	प्रेम पुस्तकालय, बरेली	
६.	,, ,,	,,	वैदिक पुस्तकालय, मुरादाबाद	
७.	,, ,,	राजाराम	आर्ष ग्रन्थावली, लाहौर	
८.	,, संस्कृत भाष्य	ब्रह्ममुनि परिव्राजक	आर्यकुमार महासभा, बड़ौदा	
९.	,, विद्योदय भाष्य	उदयवीर शास्त्री	विरजानन्द वैदिक संस्थान, गाजियाबाद	

अन्य ग्रन्थ

१.	प्रशस्तपाद भाष्य पदार्थ धर्म संग्रह	गणेशदत्त शास्त्री	विरजानन्द यंत्रालय, लाहौर	
२.	तर्कसंग्रह मूलम्	कृपाराम	विक्टोरिया मुद्रणालय, काशी	१९४५ ई.
३.	,, न्यायबोधिनी व्याख्या	,,	भारतजीवन यंत्रालय, काशी	१९४५ ई.

(उ) वेदान्त सूत्र

१. वेदान्तार्य्य भाष्य	आर्यमुनि			
२. वेदान्तदर्शन भाषा भाष्य	तुलसीराम स्वामी	स्वामी प्रेस, मेरठ		
३. ,, उर्दू भाष्य	दर्शनानन्द सरस्वती			
४. ,, पूर्वार्द्ध	मू. ले. दर्शनानन्द सरस्वती	प्रेम पुस्तक भंडार, बरेली		१९५१ ई.
५. ,,	अनु. विहारीलाल शास्त्री	,,		१९७३ ई.
६. ,, उत्तरार्द्ध	अनु. गोकुलचन्द्र दीक्षित	आर्य किशोर पुस्तकालय, आगरा		१९९४ वि.
७. ,, भाषा भाष्य	राजाराम	आर्ष ग्रन्थावली, लाहौर		
८. ,, संस्कृत भाष्य	ब्रह्ममुनि परिव्राजक	सार्वदेशिक सभा	१९५४ ई.	ब्रह्ममुनि ग्रन्थमाला ६१
९. ,, भाषा भाष्य	,,	,,	२०२० वि.	,, ६१
१०. ,, वेदान्त विज्ञान	गोपाल			प्रथमाध्याय
११. ,, विद्योदय भाष्य	उदयवीर शास्त्री	विरजानन्द वैदिक संस्थान, गाजियाबाद		
१२. वेदान्तदर्शनम् गुर्जर भाष्य	मू. ले. आर्यमुनि अनु. मणिशंकर शर्मा	जेठाभाई प्रेमजी ट्रस्ट मुम्बई		१९९४ वि.
१३. ब्रह्मसूत्र शाङ्कर भाष्य भामती टीका सहित	अनु. शुक्रराज शास्त्री			

अन्य ग्रन्थ

१. वेदान्त तत्त्व कौमुदी	आर्यमुनि	देवदत्त शर्मा, लाहौर	१९७२ वि.
२. अद्वैतवाद	गंगाप्रसाद उपाध्याय,	कला प्रेस प्रयाग	१९८५ वि.
३. शाङ्कर भाष्यालोचन	,,	,,	
४. वेदान्त—प्राचीन और नवीन	रामगोपाल शास्त्री	आर्यसमाज करोल बाग, दिल्ली	२०१७ वि.
५. अद्वैतवाद खण्डन	श्रीराम आर्य	वैदिक साहित्य प्रकाशन, कासगंज	१९७६ ई.
६. शंकराचार्य के अद्वैतवाद का वास्तविक स्वरूप	रामनाथ चोपड़ा		२०३० वि.

७.	शंकर मायावाद	राजेन्द्र	वेद मन्दिर प्रकाशन, अतरौली		
८.	नवीन वेदान्त नाटक	जगन्नाथ भारतीय	रामचन्द्र वैश्य मेरठ		१९४७ वि.
९.	द्वैताद्वैत संवाद	भीमसेन शर्मा			१८८८ ई.
१०.	अद्वैतवाद	देवानन्द संन्यासी	देवाश्रम, ऋषिकेश		
११.	अद्वैतवाद समीक्षा	स्वरूपानन्द (स्वामी)			
१२.	वेदान्त प्रदीप		वैदिक पुस्तकालय, लाहौर		
१३.	नवीन प्राचीन वेदान्त	दर्शनानन्द सरस्वती	गो. हा. कलकत्ता		
१४.	वेदान्त सिद्धान्त				

(ऊ) मीमांसा सूत्र

१.	मीमांसा दर्शन मूल मात्र	कृपाराम	तिमिरनाशक प्रेस, काशी		१९४६ ई.
२.	मीमांसार्य्य भाष्य ३ भाग	आर्यमुनि	,,		
३.	,, २ भाग	,,	हरयाणा साहित्य संस्थान		
४.	मीमांसा दर्शन गुर्जर-भाष्यानुवाद	मू. ले. मयाशंकर शर्मा अनु. भवानीलाल भारतीय	,,	१९८१ ई. २०३८ वि.	अध्याय ७ से १२
५.	,, २५ सूत्र	तुलसीराम स्वामी	स्वामी प्रेस, मेरठ		
६.	,, (अपूर्ण)	गोकुलचन्द्र दीक्षित	आर्य पुस्तक भवन, आगरा		
७.	,, (अपूर्ण)	देवदत्त शर्मोपाध्याय	प्रेस पुस्तक भंडार बरेली	१९५७ ई.	
८.	,, शाबर भाष्य	टी. युधिष्ठिर मीमांसक	प्र. युधिष्ठिर मीमांसक	भाग-१ २०३४ वि. भाग-२ २०३५ वि.	
९.	,, शाबर भाष्य	गंगाप्रसाद उपाध्याय		भाग-३ २०३७ वि.	
१०.	,, गुर्जर भाष्य	मयाशंकर शर्मा			पाण्डुलिपि
	मीमांसा प्रदीप	पं. गंगाप्रसाद उपाध्याय कला प्रेस. प्रयाग	कला प्रेस प्रयाग		

(ए) स्फुट ग्रन्थ

१.	नवदर्शन संग्रह	राजाराम	आर्ष ग्रन्थावली, लाहौर	
२.	सर्वदर्शन सिद्धान्त संग्रह	अनु. गंगाप्रसाद उपाध्याय	कला प्रेस, प्रयाग	
३.	सर्वदर्शन मीमांसा	गोपाल	शारदा मन्दिर, दिल्ली	
४.	षड् शास्त्रों की उत्पत्ति का क्रम	दर्शनानन्द सरस्वती	दयानन्द ट्रैक्ट सोसायटी-१०	
५.	षड्दर्शनादर्श	आर्यमुनि		
६.	षड्दर्शन समन्वय	बुद्धदेव मीरपुरी	आर्य साहित्य विभाग, आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि, सभा, लाहौर	
७.	,,	ओमानन्द तीर्थ	सांख्य योग प्रकाशन समिति, अजमेर	१९५१ ई.

(ऐ) आर्य लेखकों के दर्शन विषयक मौलिक ग्रन्थ

१.	आर्य दर्शन	राजाराम	आर्ष ग्रन्थावली, लाहौर	
२.	वैदिक दर्शन	चमूपति	राजपाल, आर्य पुस्तकालय, लाहौर	१९२५ ई.
३.	आर्ष दर्शन	,,		
४.	आस्तिकवाद	गंगाप्रसाद उपाध्याय	कला प्रेस, प्रयाग	
५.	जीवात्मा	,,	,,	
६.	मैं और मेरा भगवान्	मू. ले. गंगाप्रसाद उपाध्याय	राजपाल एण्ड संस, लाहौर	
७.	,,	अनु. वेदानन्द तीर्थ		
८.	त्रैतवाद	गंगाप्रसाद उपाध्याय	आर्यसमाज चौक, प्रयाग	ट्रैक्टमाला-६
९.	,,	बुद्धदेव विद्यालंकार	आर्य प्रतिनिधि सभा. म. द. हैदराबाद	२०१८ वि.
१०.	वैदिक त्रैतवाद	सत्यव्रत स्नातक	रतिलाल हरजीवनदास पटेल	१९८२ वि. गुर्जरभाषा में
११.	त्रैतवाद का उद्भव और विकास	योगेन्द्रकुमार शास्त्री	आर्यसमाज कलकत्ता	२०३८ वि.
१२.	आस्तिक विचार	देवप्रकाश	मुकन्दलाल धर्मार्थ ट्रस्ट, अमृतसर	
१३.	आत्मदर्शन	नारायण स्वामी	इन्द्रजीत एण्ड संस, शाहजहांपुर	

१४. आत्ममीमांसा	नन्दलाल खन्ना		
१५. नास्तिकवाद	देवेन्द्रनाथ शास्त्री	गो. हा. दिल्ली	
१६. दो सनातन सत्ताएं	रामचन्द्र देहलवी	आर्यसमाज नयाबांस, दिल्ली	
१७. ब्रह्मविचार (व्याख्यान)	स्वामी पूर्णानन्द		१९७२ वि.
१८. दर्शनतत्त्वविवेक	वैद्यनाथ शास्त्री	उर्मिला शास्त्री, बड़ौदा	१९७३ ई.
१९. प्रपञ्चपरिचय	विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि	हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई	

(आ) दर्शन विषयक मौलिक संस्कृत ग्रन्थ

१. वैदिक त्रैतवाद	सत्यव्रत स्नातक		अप्रकाशित
२. आर्य स्मृति	मयाशंकर शर्मा		,,
३. दर्शन मीमांसा	विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि		,,
४. बौद्ध दर्शन मीमांसा	,,		
५. मनोविज्ञान मीमांसा	,,		
६. नीतिशास्त्रम्	,,		
७. सिद्धान्तशतकम्	जयदत्त शास्त्री	रामलाल कपूर ट्रस्ट	२०२७ वि.
८. अनादि तत्त्वदर्शन	लक्ष्मीदत्त दीक्षित	विरजानन्द वैदिक संस्थान, गाजियाबाद	